# मन्तव्य



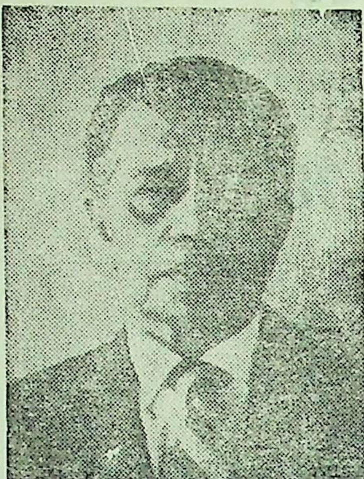
स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
जम्मू विश्वविद्यालय

# मन्तव्य

## 1977-78



स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू



# कुलाधिपति का संदेश

राजभवन,

श्रीनगर

जून 3, 1978

प्रिय डॉ० संसार चन्द्र,

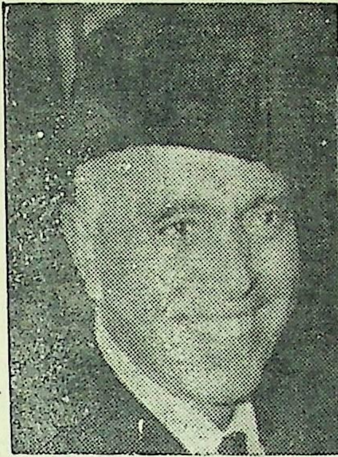
आपके पत्र के साथ प्राप्त 'मन्तव्य' में संकलित लेखों तथा शोध-सम्बन्धी अन्य रचनाओं को पढ़ कर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। इन रचनाओं पर विद्वत्ता की छाप है तथा ये उस उच्चस्तरीय शोधकार्य की साक्षी हैं जो आपकी देखरेख में जम्मू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में हो रहा है।

मैं महसूस करता हूं कि "मन्तव्य" के नियमित प्रकाशन से देशभर के विद्वानों को विभाग में किये जा रहे कार्य का परिचय मिलेगा तथा राज्य के भीतर और बाहर विचारों के आदान-प्रदान का प्रोत्साहन मिलेगा

शुभकामनाओं सहित,

आपका

लक्ष्मीकान्त झा।



मुख्य मन्त्री

जम्मू–कश्मीर

# शुभकामना

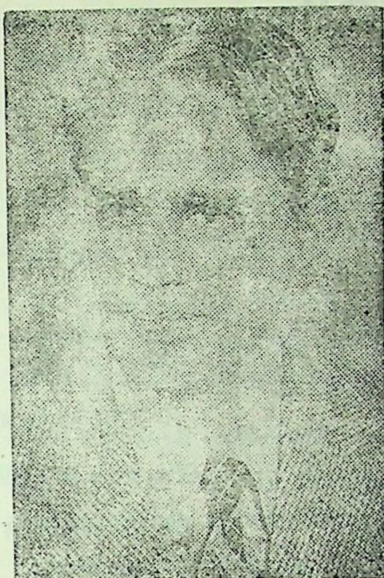
मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि जम्मू विश्वविद्यालय ने पिछले वर्षों से हिन्दी विभाग द्वारा लिखवाये गये शोध–पत्रों को एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया है।

हिन्दी हमारे देश की महान् सांस्कृतिक परम्पराओं को उभारती है और राष्ट्रभाषा के तौर पर इसके अधिक बिस्तार की जो कोशिशें हो रही हैं, उन की पूर्ति के लिए ज़रूरी है कि शिक्षा केन्द्रों में इस की तरफ़ विशेष ध्यान दिया जाए।

मैं आशा करता हूँ कि जम्मू विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग साहित्य और शोध के क्षेत्रों में इस प्रकार के लाभदायक कार्य करता रहेगा।

मैं इस प्रयास की सफलता के लिए शुभकामनाएँ भेजता हूँ।

शेख़ मुहम्मद अब्दुल्ला



# कुलपति की बधाई

जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू
मई 8, 1978

मुझे यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि जम्मू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यापकों और शोध-छात्रों के अनुसन्धानकार्य पर आधारित लेखों का संग्रह "मन्तव्य" पत्रिका के रूप में प्रकाशित हो रहा है। प्रस्तुत अंक के कुछ लेख मैंने पढ़े हैं और उनके स्तर से मैं प्रभावित हुआ हूँ। नई पीढ़ी का शोध-कार्य विशेष रूप से इस पत्रिका में स्थान पा रहा है जो हमारे विभाग की संभावनाओं और शक्ति का बोध कराता है। इस स्तुत्य प्रयास के संयोजक बधाई के पात्र हैं।

श्यामाचरण दुबे

# क्रम

# प्रारम्भ

देश–विदेश के बिश्वविद्यालयों में हिन्दी भाषा और साहित्य पर असंख्य शोधप्रबन्ध लिखे जा रहे हैं। हिन्दी विभागों में तुलनात्मक दृष्टिकोण से अन्य भाषाओं, उनके साहित्य तथा लोक संस्कृति का भी अध्ययन किया जा रहा है। इस दृष्टिकोण ने हिन्दी–शोध को एक प्रशंसनीय व्यापक आयाम प्रदान किया है।

एक सामान्य शिकायत यह रही कि अधिकाँश शोधकार्य मात्र उपाधियाँ प्राप्त करने के उद्देश्य से किया जा रहा है किन्तु इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता है कि ऐसे अध्यापकों तथा अनुसन्धित्सुओं की भी कमी नहीं है जो जिज्ञासा एवं गवेषणा की प्रवृत्ति की तुष्टि के लिए शोध–निरत हैं।

यहीं, हमारे सामने, एक और प्रश्न–चिह्न उभरता है। इस विपुल अनुसन्धान-कार्य के प्रकाशन की व्यवस्था क्या है ? अनथक परिश्रम से तैयार किये गये इन ग्रन्थों का एक भारी प्रतिशत अप्रकाशित रहता है। प्रकाशकों के हाथों जो शोषण लेखक को भोगना पड़ता है, सर्वविदित है।

प्रकाशन के सन्दर्भ में एक और समस्या विचारणीय है। हिन्दी में ऐसी पत्रिकाओं का अभाव है जिनमें शोधार्थी अपने लेख आदि प्रकाशित करा सकें। दो–एक ग़ैर सरकारी संस्थानों द्वारा संचालित पत्रिकाओं का प्रकाशन अनियमित रहता है और ये पत्रिकाएँ लेखक को पारिश्रमिक भी नहीं देतीं। कुछ सरकारी अभिकरण भी पत्रिकाएं प्रकाशित करते हैं किन्तु इनकी सीमाएं भी स्पष्ट तथा स्वाभाविक हैं। शोधार्थी और साहित्यकार–दोनों को अभिव्यक्ति के माध्यम की तलाश है। आवश्यकता है ऐसी पत्रिकाओं को जो प्रांतवाद, गुटवाद आदि पूर्वाग्रहों से ऊपर उठकर स्वस्थ वातावरण का निर्माण करें, गवेषणात्मक एवं रचनात्मक क्षेत्रों में पनप रही प्रवृत्तियों एवं उपलब्धियों के प्रामाणिक दस्तावेज बन सकें।

शोध के क्षेत्र में हो रहे विपुल कार्य का परिचय करने–करवाने एवं उपयुक्त दिशा–निर्देश के लिए एक केन्द्रीय अभिकरण की महती आवश्यकता है। कम से कम एक ऐसा कार्यालय तो बनाया ही जाना चाहिए जहां सभी शोध प्रबन्धों के विषयों की सूचना मिल सके। यह कार्यालय समाचार पत्रों के पंजीयक कार्यालय के अनुरूप काम कर सकता है। इससे अवांछित डुप्लीकेशन से बचा जा सकेगा। इस कार्यायल से उपलब्ध पंजीकृत विषयों की सूचियाँ शोधार्थी का पथ–प्रदर्शन भी करेंगी, प्रतिभा और श्रम के अपव्यय से भी बचा जा सकेगा।

जम्मू विश्वविद्यालय का स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग छात्रों तथा शोधार्थियों की संख्या की दृष्टि से देश के प्रमुख विश्वविद्यालयों की पंक्ति में परिगणित किया जा सकता है। सम्प्रति एम० ए० में छात्रों की संख्या 104 है, डी० लिट० के लिए 19 तथा पी-एच० डी० के लिए 23 शोधार्थी कार्य कर रहे हैं। डी० लिट० के लिये 2 तथा पी–एच. डी के लिए 15 शोधप्रबन्ध स्वीकृत हो चुके हैं। अब तक सामने आए शोधप्रबन्ध स्तरीयता की मुंह बोलती तस्वीरें हैं। इन छात्रों, अनुसन्धाताओं तथा अध्यापकों को अभिव्यक्ति का एक माध्यम प्राप्त हो इस उद्देश्य से 'मन्तव्य' के प्रकाशन की योजना बनी। हमें आशा है कि 'मन्तव्य' संवाद तथा परिचर्चा का भी मंच बन सकेगा। अतएव, प्रकाशित लेखों पर सुधी पाठकों की टिप्पणियों का हम स्वागत करेंगे।

—डॉ० ओमप्रकाश गुप्त

## जम्मू विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग में डी० लिट० के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध

| क्रम | शोधकर्ता का नाम | विषय |
|---|---|---|
| 1 | डॉ० ओम प्रकाश शर्मा | स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी गद्य साहित्य में व्यंग्य |
| 2 | डॉ० चन्द्र शेखर | समकालीन हिन्दी नाटक कथ्य-चेतना |

## डी० लिट० के लिए पंजीकृत विषय

| | | |
|---|---|---|
| 1 | डॉ ओमप्रकाश गुप्त | हिन्दी–निबन्ध में व्यंग्य |
| 2 | डॉ विनोद कुमार | सिद्ध और नाथ सहित्य में प्रतीक–योजना |
| 3 | डॉ बालकृष्ण शर्मा | हिन्दी और उर्दू निबन्ध–साहित्य में हास्य और व्यंग्य–तुलनात्मक अध्ययन |
| 4 | डॉ पंजाबी लाल | निर्गुण भक्ति के मूल स्रोतों के आधार पर रीतिकालीन हिन्दी-निर्गुण भक्ति सम्प्रदायों का अध्ययन |
| 5 | डॉ विद्यानाथ गुप्त | आधुनिक हिन्दी कविता में मानववाद |
| 6 | डॉ सुरेन्द्र कोहली | रामचरितमानस और पंजाबी राम-काव्य |
| 7 | डॉ धर्मपाल सिंघल | नानकबाणी में दर्शन, संस्कृति और कला का स्वरूप |
| 8 | डॉ शिवप्रसाद गोयल | सुमित्रानदन पंत-वस्तु और शिल्प |
| 9 | डॉ (श्रीमती) जनक शर्मा | पौराणिक महाकाव्यों का सांस्कृतिक अध्ययन |
| 10 | डॉ (श्रीमती) सुधा गुप्ता | स्वातंत्र्योत्तर कविता का सौन्दर्य शास्त्रीय विवेचन |
| 11 | डॉ श्याम लाल यादव | स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में प्रकृति |
| 12 | डॉ छोटे लाल प्रभात | छायावादोत्तर हिन्दी कविता के प्रतीक और प्रतीकवादी काव्यमूल्य |
| 13 | डॉ निज़ामुद्दीन | तुलसी साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन |
| 14 | डॉ गंगादत्त विनोद | हिन्दी गद्यगीतों में अलंकार विधान |
| 15 | डॉ (श्रीमती) मृदुला कोहली | हिन्दी कविता में वर्णित पुराख्यानों की आधुनिक संकल्पना |
| 16 | डॉ (श्रीमती) कृष्णा रैणा | हिन्दी कहानी में नारी–चित्रण के विविध आयाम |

# पी–एच० डी के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध

| क्रम | शोधकर्ता का नाम | विषय |
|---|---|---|
| 1 | डॉ० (श्रीमती) जनक शर्मा | हिन्दी तथा डोगरी लोकगीतों का तुलनात्मक अध्ययन |
| 2 | डॉ० ओम प्रकाश गुप्त | परिनिष्ठित हिन्दी तथा डोगरी के पर–प्रत्ययों का तुलनात्मक अध्ययन |
| 3 | डॉ सतीश चन्द्र सांख्यधर | हिन्दी साहित्य पर आयुर्वेद का प्रभाव |
| 4 | डॉ विनोद कुमार | गुरु गोविन्द सिंह का काव्य एवं दर्शन |
| 5 | डॉ० बाल कृष्ण | डोगरी–हिन्दी : साम्य तथा वैषम्य |
| 6 | डॉ० सुरेन्द्र कोहली | कृष्ण–काव्य परम्परा में आधुनिक कृष्ण काव्यों का मूल्यांकन |
| 7 | डॉ० (श्रीमती) मृदुला कोहली | आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में पौराणिक आख्यानों का निर्वाह |
| 8 | डॉ० जगदीश शर्मा | हिन्दी कविता में संगीतात्मक तानों का उद्‌भव और विकास |
| 9 | डॉ० श्याम नारायण राय | सस्कृत राम–काव्यों का मानस पर प्रभाव |
| 10 | डॉ० (श्रीमती) नीलम छाबड़ा | हिन्दी एकांकी में नारी का स्वरूप |
| 11 | डॉ० (श्रीमती) सिम्मी गुप्त | हिन्दी नाटकों में जनवादी चेतना |
| 12 | डॉ० प्रियतम कृष्ण कौल | जम्मू की पूर्वोत्तरीय पर्वतीय बोलियों का लोक-साहित्य |
| 13 | डॉ० दयानन्द शर्मा | मध्ययुगीन कृष्ण काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि |

# पी–एच० डी० के लिए पंजीकृत विषय

| क्रमांक | शोधकर्ता का नाम | विषय |
|---|---|---|
| 1 | श्रीमती सुभाष पुरी | रीतिकालीन मुक्तक साहित्य में शृंगार–प्रवृत्तियाँ |
| 2 | श्रीमती चंचल शर्मा | स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी काव्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन |
| 3 | कुमारी अनिल गोयल | स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी में नारी की सामाजिक भूमिका |
| 4 | श्रीमती उषा पंडिता | हिन्दी और कश्मीरी प्रत्ययों का तुलनात्मक अध्ययन |
| 5 | श्रीमती रीता जितेन्द्र | हिन्दी नाटक और रंगमंच की शास्त्रीय पृष्ठभूमि |
| 6 | श्री बलदेव सिंह | डोगरी लोकगाथा का विवेचनात्मक अध्ययन |
| 7 | कुमारी उषा व्यास | साठोत्तरी महाकाव्य परम्परा में उर्वशी का विशिष्ट अध्ययन |
| 8 | कुमारी निर्मल गुप्त | द्विवेदी युग की पृष्ठभूमि में हरिऔध का विशिष्ट अध्ययन |
| 9 | सुश्री स्वर्णलता गुप्ता | खड़ी बोली रामकाव्य परम्परा में रामावतार पोद्दार कृत अरुण रामायण का विशिष्ट अध्ययन |
| 10 | श्रीमती विमला गुप्ता | भक्तिकालीन रामकाव्य का अभिव्यंजना शिल्प |
| 11 | श्रीमती इन्दिरा किलम | सौन्दर्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में सातवें दशक के उपन्यास का अध्ययन |
| 12 | श्रीमती रेवती शर्मा | गुरु अर्जुन देव जी की कविता का मूल्यांकन |
| 13 | श्रीमती निर्मल गुप्ता | द्विवेदी युगीन साहित्य में सांस्कृतिक चेतना |
| 14 | श्री बाल कृष्ण शास्त्री | तुलसी-साहित्यमें पौराणिक आख्यानों का विनियोग |
| 15 | श्री दुर्गा प्रसाद | मौर्यकाल पर आधारित नाटकों का आलोचनात्मक अध्ययन |
| 16 | श्रीमती विष्णु शर्मा | गुरु रामदास और हिन्दी साहित्य का उनकी देन |
| 17 | श्रीमती सावित्री सत्यभूषण | स्वतन्त्र भारत की हिन्दी कविता में सीमा-सक्रमण की प्रतिक्रिया |
| 18 | सुश्री स्वर्ण जम्वाल | स्वतन्त्र भारत की आर्थिक समस्याएँ और कविता में उनकी प्रतिक्रिया |
| 19 | कुमारी प्रवीण गांधी | स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में नैतिक मूल्यों का विघटन |
| 20 | श्रीमती प्रमिला गुप्ता | भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों की सामाजिक समस्याएं और उनका समाधान |
| 21 | कुमारी अमर जीत | गुरु गोविन्द सिंह कृत दशम ग्रन्थ में मानववादी भूमिका |

# कबीर काव्य में अन्योक्ति

डॉ० संसार चन्द्र

मानव अपने कथन को अधिक से अधिक आकर्षक और प्रभावशाली बनाने के लिए विभिन्न प्रकार एवं ढंग अपनाता है। इस प्रकार बातचीतसे कलात्मक अभिव्यक्ति के स्तर तक मानव ने इस पीड़ा को भोगा है। इस से मुक्ति पाने के लिए ही उसने विभिन्न वाणी-विधानों का आविष्कार किया, जिन्हें काव्य-शास्त्रियों ने अलंकार की संज्ञा दी। कुछ अलंकारों में कथ्य को सीधे ढंग से प्रतिपादित करने का सहज सौन्दर्य तथा कुछ एक में जरा टेढ़े ढंग से कहने की सौन्दर्य–वक्रता निहित रहती है। सौन्दर्य का दूसरा स्वरूप टेढ़ा होने के कारण मानव-मन में अपेक्षाकृत अधिक गहरा उतरने की सामर्थ्य रखता है। इसमें व्यंग्य का दंश रहता है, जिसका पैना और तिरछा रूप मन की गहराइयों को तराशता हुआ दूर अन्दर तक धसता चला जाता है। ऐसे अलकारों में अन्योक्ति विशेष महत्वपूर्ण है। इसमें व्यंग्य का प्रखर रूप रहता है। अन्योक्ति एक ऐसा धनुष है जो सीधे–साधे बाणों में अपनी मारी वक्रता भर देता है, जिनसे आहत व्यक्ति न तो आह भर सकता है और न कराह सकता है क्योंकि अन्योक्ति–व्यंग्य सर्वदा परोक्ष होता है। चोट कहीं पड़ती है और घाव कहीं होता है। निशाना कहीं साधा जाता है और शिकार कोई और होता है। अन्योक्ति के बाण चलाना सबके बलबूते का काम नहीं होता। वास्तव में अन्योक्ति वाणी का ऐसा टेढ़ा शस्त्र है जिसे चलाने के लिए चालक को भी टेढ़ा बनना पड़ता है। वह जितने टेढ़े कोण पर निशाना लेगा, तीर की परवाज़ एवं मार भी उतनी ही गहरी होगी। अत: अन्योक्ति के लिए कला का विशेष कौशल अपेक्षित रहता है। इसके लिए युद्ध भूमि के दाव पेंचों की तरह सतर्क होना पड़ता है। लक्ष्य-संधान के लिए कोई अच्छी आड़ अथवा कवर अनिवार्य होता है। कविता में यह काम अप्रस्तुत अथवा प्रतीक द्वारा लिया जाता है। इनकी आड़ में ही तीरन्दाजी होती है, इसलिए अन्योक्ति में प्रस्तुत सदा ही व्यंग्य रहता है!

हिन्दी–साहित्य अन्योक्ति की अपार सम्पति से मंडित है। हिन्दी में अन्योक्ति का प्रारम्भिक रूप हमें सर्वप्रथम बौद्ध वज्रयान शाखा के सिद्धों की रचनाओं में मिलता है। यहां अन्योक्ति उल्टबांसियों के रूप में विस्तार पाती है। वास्तव में उल्टबांसी भी अन्योक्ति का ही एक शैल्पिक भेद है। यहाँ अन्योक्ति सादृश्य मूलक प्रतीक विधान के स्थान पर विरोधमूलक प्रतीक-विधान को लेकर चलती है। शब्दान्तर से यह कह सकते हैं कि विरोधमूलक अन्योक्ति को ही उल्टबांसी कहते हैं। इसमें विरोध भी आपातत: ही रहता है वस्तुत: नहीं। कभी–कभी कल्पनाओं में चमत्कार और कुतूहल पैदा करने के लिए भी आध्यात्मिक अनुभूतियों को वैपरीत्यमुखेन अभिव्यक्त किया जाता है। यदि संकेत समझ में आ जाए तो कोई कठिनाई नहीं होती। अन्यथा साधनात्मक रहस्यवाद की तरह इनका मुख्य उद्देश्य ज्ञान-चर्चा एवं प्रभाव–स्थापन तक ही समाप्त हो जाता है।

उपर्युक्त विरोधमूलक अन्योक्तियों का प्रयोग कबीर काव्य में विपुल मात्रा में मिलता है। हिन्दी में अन्योक्ति का यह रूप अत्यन्त प्राचीन है, बौद्ध वज्रयान शाखा के चौरासी सिद्धों के काव्य में इस पद्धति का प्रारम्भिक रूप मिलता है। रहस्यवादी प्रवृत्ति के अनुसार सिद्ध लोग अपनी वाणी गुह्य-सांकेतिक रखते थे। इस गुह्य वाणी को सरहपा ने 'गहीन गुहिक भास' (गहन गुह्य भाषा) कहा है। बौद्ध वज्रयान पर आधारित गोरख पंथ में विरोध-मूलक प्रतीक-विधान–परक अन्योक्तियां अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित हुईं जो कबीर की अन्योक्ति

पद्धति के लिए पूर्व–पीठिका सिद्ध हुई हैं। वैसे भी अपने पूर्व–वर्तियों में से कबीर गोरखनाथ से सर्वाधिक प्रभावित हैं। वस्तुतः कबीर पर समस्त प्रभाव इसी माध्यम से पड़ते हैं, गोरखपथ कबीर की काव्य–चेतना का वीर्यवान् शक्ति–कोष है, जिसने कथ्य एवं शिल्प दोनों प्रकार से कबीर को प्रभावित किया है।

सिद्धों एवं नाथ पंथियों से कबीर तक पहुंचने में वीर गाथा काल का अन्तराल आता है यह काल राजनैतिक पराभव का काल है। जो एक विशेष परास्त मनोवृत्ति को जगाता है। इस युग में विस्थापन और विच्युति की पीड़ा का भयंकर रूप मिलता है, जो जन-मानस में घोर अनास्था का संचार करता है। युद्धोत्तरता का संत्रास, विघटन एवं विच्छेदन नितान्त गहन एवं चिरकालिक था। इसलिये इस युग में वीरकाव्य का प्रणयन अधिकतर गाथात्मक ही हुआ है। सारा वातावरण सामन्तीय होने के कारण वीरों की वीरता तथा युद्ध–वर्णनों को ही प्रश्रय मिलता है, इस साहित्य में अन्योक्ति-विस्तार की सम्भावनाएं अधिक नहीं थीं। अतः यहां इसका सामान्य रूप ही उपलब्ध होता है।

वीर गाथा काल के उत्तरार्ध अथवा समाप्ति पर अथवा वीर गाथा काल और कबीर युग के संधि–स्थल पर हिन्दी के दो और कवि अमीर खुसरो और मैथिल कोकिल विद्यापति मिलते हैं। खुसरो ने जन–मनोविनोद के लिये बोल–चाल की भाषा में बहुत सी पहेलियां और मुकरियां लिखी हैं जिनमें उक्ति–वैचित्र्य का भव्य संचार है। इनमें किसी मात्रा तक अन्योक्ति की छाया ही मिलती है। शिल्प की दृष्टि से इन्हें अन्योक्ति का अविकसित अथवा स्थूल रूप कह सकते हैं। कथन के इस माध्यम में कोरा चमत्कार ही होता है, संवेदन नहीं। विद्यापति में भी अन्योक्ति प्रच्छन्न रूप में मिलती है। इनकी गोपियां पंचेन्द्रियां हैं और राधा दिव्य ज्ञान। गोपियों को छोड़ कर कृष्ण का राधा से प्रेम करना जीव की मुक्ति है। इसके अतिरिक्त विद्यापति ने राधा-माधव के सौन्दर्य में कुछ ऐसे दृष्टकूट भी दिये हैं जो अन्योक्ति पर आधारित है। जहां तक कबीर की अन्योक्ति का सम्बन्ध है, वह इन कवियों के प्रभाव से सर्वथा अस्पृष्ट रही है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वीर गाथा काल अन्योक्ति के काव्यात्मक प्रसार एव वैभव की दृष्टि से सर्वथा एक विपन्न युग है। सिद्ध एवं नाथ–साहित्य का अन्योक्ति नैरन्तर्य यहां पहुंच कर प्रायः कुंठित हो जाता है। यद्यपि गोरख एवं नाथ-पंथ का दाय वीर गाथा कालीन परिवेशों से रूपान्तरित होकर ही कबीर तक पहुंचता है परन्तु जहां तक अन्योक्ति का सम्बन्ध है वह तो वीर गाथा काल में प्रायः श्रीविहीन ही बनी रहती है।

हिन्दी में अन्योक्ति के सम्यक् उदय एवं विकास का श्रीगणेश वीर गाथा काल की समाप्ति और भक्ति काल के आगमन पर होता है। कुछ विद्वान भक्ति काल को वीर गाथा काल की विशुद्ध प्रतिक्रिया मात्र मानते हैं और दूसरे इसको पूर्व-प्रचलित भक्ति के नैरन्तर्य का ही विकास मानते हैं। वास्तव में ये मान्यताएं आंशिक रूप में ही संगत है। भक्ति काल न तो वीर गाथा काल की प्रतिक्रिया ही है और न ही मात्र किसी नैरन्तर्य का विकास। वस्तुतः इस युग में वीर गाथा कालीन विच्युति और विच्छेद के कारण परम्परा से चला आ रहा भक्ति का नैरन्तर्य अवरुद्ध हो जाता है और विप्लव का रोमांच-कारी रूप प्रारम्भ होता है। परन्तु जब ये स्थितियां थोड़ी शांत होने लगती हैं, तब पुनः उस नैरन्तर्य का परिवर्तित रूप आगे आने लगता है। अतः कबीर की भक्ति-चेतना जहां वीर गाथा काल की प्रतिक्रिया में उठती है, वहां उसकी मूल चेतना एवं उसका अंतरंग उस पूर्व–परंपरित नैरन्तर्य से जुड़ा है अथवा इस चेतना का बहिरंग तो वीर गाथा काल संक्रमण से संक्रमित होता है जबकि उसकी आन्तरिकता

गोरखयुगीन रूप से सम्बद्ध होती है। हिन्दी में अन्योक्ति–विकास के सम्बन्ध में भी यही स्थिति चरितार्थ होती है। सिद्ध तथा नाथ पंथ की अन्योक्ति–धारा भक्ति–धारा के समान ही वीर गाथा कालीन कार्पण्य, क्लैव्य, अनास्था और संत्रास के मरुस्थल में सूखने लगती है परन्तु कबीर तक पहुँचने पर पुनः पूर्ववर्ती नैरन्तर्य से जुड़ कर सरल एवं पीन बन कर प्रवाहित होने लगती है। इस प्रकार अन्योक्ति की विकास-प्रक्रिया युग–बोध के संदर्भ में समानान्तर ही चलती है।

वीर गाथा काल की युद्धोत्तर अशान्ति का प्रथम प्रभाव अनास्था मनो–वृत्ति के रूप में सामने आता है। यह अनास्था ईश्वर के सगुण लोकपालक रूप के विरुद्ध उठती है, जिसकी परिणति निर्गुण–साधना में होती है। कबीर निर्गुण के ही प्रतिनिधि कवि हैं। निर्गुणवाद संसार की क्षण-भंगुरता एवं विविध विडम्बनाओं के प्रति विशेष जागरूक है, जिसके फलस्वरूप हिन्दी में अन्योक्ति विस्तार की सम्भावनाएं विकासशील आयामों में प्रसार पाने लगती हैं।

निर्गुण सन्त कवि निश्छल, सहज एवं सरल प्रकृति के थे। काव्य रचना उनकी साध्य नहीं थी अतः उन्होंने सरल कथ्य के लिये अभिव्यक्ति के ऋजु एवं अव्यक्त माध्यमों तथा विधानों को ही प्रश्रय दिया। कबीर प्रभृति निर्गुण सन्त-कवियों के पद्यों एवं साखियों में अभिव्यक्ति का निसर्ग एवं निराडम्बर रूप मिलता है। इन्होंने यत्र–तत्र सांसारिक विडम्बनाओं, विसंगतियों और विकृतियों को अन्योक्तिपरक विधाओं द्वारा अनावृत किया है। यद्यपि उनमें व्यंग्य की विशेष प्रखरता और व्यंजना की विशद अर्थध्वनि वांछित आयाम तक विस्तार नहीं पाती। जहां तक कथ्य की विविधता एवं व्यापकता का सम्बन्ध है, कबीर सभी पूर्वागत एवं समसामयिक कवियों के अग्रणी सिद्ध होते हैं, जिनका काव्य अन्योक्ति की भव्य सम्पदा से सुतराँ अलंकृत हैं।

कबीर की अन्योक्ति में संसार की क्षण-भंगुरता और नश्वरता का संत्रास बड़ा गम्भीर है। यह संसार उन्हें पानी के बुदबुदे और प्रभात के तारे की तरह क्षणिक दिखाई देता है। मर रहा पत्ता बनराय से पुनः न मिल सकने का संदेश देता है। माली को आता देख उनकी कलियाँ बिलखने लगती हैं। मृत्यु की कराल छाया सर्वत्र घूरती हुई दिखाई देती है। जीवन से विरक्ति तथा संसार से पलायन की अभिव्यक्ति अन्योक्ति के माध्यम से विशेष सफलता से सम्पन्न हुई है। कबीर की अन्योक्ति में संसार और ईश्वर-सम्बन्धी उनकी निजी अनुभूति भी यत्र-तत्र झंकृत हो जाती हैं। जनसाधारण की जिह्वा पर चढ़ा हुआ इनका यह प्रसिद्ध दोहा ध्यातव्य है—

"जिन ढूंढा तिन पाइयां, गहरे पानी पैंठ
हौं बौरी बूड़न डरी, रही किनारे बैठ ॥"

इसमें संसार में आत्मतत्व की प्राप्ति के कठिन प्रयत्न के लिये समुद्र में गोता लगाकर रत्न ढूंढने का अप्रस्तुत विधान किया गया है। ससार का प्रतीक समुद्र है और आत्म–तत्व का रत्न। माधुर्यभाव के वर्णन में जीवभूत स्वयं को कबीर नारी के प्रतीक में अभिव्यक्त करते हैं। नारी का प्रतीक प्रियमिलन के वृत्त में ही ठीक बैठता है, समुद्र की गोताखोरी में नहीं, इस लिये उक्त दोहे के उत्तरार्ध का यह दूसरा पाठ-भेद ही हमें प्रकृत में अधिक उचित प्रतीत होता है :—

"हौं बपुरा बूढ़न डरा, रहा किनारे बैठ।"

इसी तरह आत्मा की 'पखेरू' के प्रतीक में भी अन्योक्ति देखिये—

बाढ़ी आवत देखिकर, तरुवर डोलन लाग।
हम कटे की कछु नहीं, पंखेरू घर भाग ॥

यहाँ बढ़ई काल का प्रतीक है और तरुवर देह का। तरुवर का डोलना वृद्धावस्था का रूप है। डा० श्याम

सुन्दर दास के शब्दों में यह 'डोलना' आत्मा को इस बात की चेतावनी देता है कि शरीर के नाश का दुःख न करके ब्रह्म-तत्व में लीन होने का प्रबन्ध करो। पक्षी का घर भागना यही है। काटते समय पेड़ को हिलते और वृद्धावस्था में शरीर को कांपते किसने न देखा होगा? परन्तु किसलिए वह हिलता-कांपता है, इसका रहस्य कबीर ही जान पाए हैं।

आध्यात्मिक अन्योक्तियों में कबीर के प्रतीकों एवं संकेतों की प्रयोग-विविधता देखकर आश्चर्य होता है। मसी—कागद न छूने की उनकी आत्मघोषणा अनर्गल लगती है। वे निरक्षर थे या नहीं यह कहना तो नितान्त कठिन है परन्तु उनके सूक्ष्म अन्योक्ति-विधान को देखकर निश्चय होने लगता है कि उनको निरक्षर मानना उनके वक्तव्य की मूल अर्थ-ध्वनि को न समझना है। कबीर का ज्ञानार्जन साक्षरता-सापेक्ष न भी हो, यह अवश्य ही मानना पडता है कि उनकी संग्राहिका शक्ति बहुत सतर्क थी। वह जो ग्रहण करती थी उसे अपने मनन और चिन्तन के शूर्प में छटक कर ही स्वीकार करती थी। कबीर की आध्यात्मिक अन्योक्तियों में प्रस्तुत कुछ प्रसिद्ध प्रतीक एवं संकेत इस प्रकार हैं—

आत्मा के व्यंजक संकेतों में हंस, बादशाह, साह, सती, दुलहिन वियोगिनी विशेष प्रसिद्ध हैं। इसी तरह कबीर ने परमात्मा के सागर, दरिया, प्रीतम, दूल्हा, खसम आदि प्रतीक माने हैं। मन के मृग, बगुला, सियार, कौआ, मेंढक आदि प्रसिद्ध हैं। माया के सांपनी, बिलैया, हिरणी, डाइन, आदि प्रतीक मिलते हैं। कबीर ने अन्यान्य प्रतीकों के प्रयोग द्वारा अपने रहस्यवाद में प्रतीक-वैविध्य-दिखाया है, जो कबीर का हिन्दी अन्योक्ति-साहित्य को एक विशिष्ट योगदान है। उदाहरण के लिए कबीर द्वारा नलिनी के प्रतीक में खींचा हुआ आत्मा का चित्र देखिये:—

काहे री नलिनीं तू कुमिलांनी,
तेरे ही नालि सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में बास, जल में नलनी तोर निवास।
ना तलि तपति न ऊपरि आगि, तोर हेतु कहु कासनि लागि।
कहै कबीर जे उदिक समांन, ते नहीं मूए हमारे जान।।

यहां जीवात्मा नलिनी है, परमात्मा सरोवर पानी है। पानी की शीतलता के सामने ताप का प्रश्न ही नहीं उठता। इस रहस्य को समझने वाले तत्वदर्शी मर ही कैसे सकते हैं?

नीति तथा व्यवहार सम्बन्धी अन्योक्तियों के सृजन में भी कबीर का योगदान है। वे जीवन और जगत् के सूक्ष्म अध्येता थे। उनके जीवन और जगत् सम्बन्धी निष्कर्ष अनुभूत, अर्जित तथा आत्म-चिन्तित हैं। इनके एक—दो उदाहरण इस प्रकार हैं—

मलय गिरिके बास में बेधा ढाक पलास।
वेना कबहुं न बेधिया, जुग-जुग रहिया पास।।

यहाँ यह बताया गया है कि चन्दन के आस-पास के कितने ही वृक्ष उसकी सुगन्ध से सुरचित हो जाते हैं, परन्तु बाँस ही एक ऐसा है, जो वैसा का वैसा रहता है। यह तो 'मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिले विरंचि सम' अथवा 'सूरदास खल कारी कामरी चढ़े न दूजो रंग' वाली बात है। इस तरह यहां चन्दन और बाँस के अप्रस्तुत-विधान से 'सत्संगति में रह कर भी मूर्ख नहीं सुधरता' इस प्रस्तुत अर्थ की अभिव्यक्ति की गई है। इस तरह परीक्षा करके गुणी और निर्गुण की असलियत का पता चल जाता है, इस प्रस्तुत बात को प्रकट करने वाली निम्नलिखित अन्योक्ति भी देखिये :—

हंसा बक इक रंग लखि, चरें एक ही ताल।
छीर—नीर ते जानिए, बक उघरै तैहि काल।।

यहां बाह्य कलेबर एवं रूप-रंग समान होने पर भी यदि हंस और बक में भेद प्रकट करना चाहो, तो उससे नीर-क्षीर विवेक करवा लो, यह सारा प्रकृति-चित्र अप्रस्तुत विधान है।

● आचार्य तथा अध्यक्ष,
स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, जम्मू विश्व विद्यालय।

# रसमंजरी परंपरा की एक प्राचीन अज्ञात कड़ी

## ईस्मायेल पठान कृत 'अष्टकला' रसमंजरी,

डॉ० प्रभात

हिन्दी में रसमंजरी नाम के अनेक ग्रंथ मिलते हैं, जिनमें नंददास कृत 'रसमंजरी,' मान (प्रथम) कृत 'भाषा कवि रसमंजरी' आदि अनेक रचनाओं से हमारे साहित्य का इतिहास परिचित है और विद्वानों का मत यह है कि मंजरियों की यह परम्परा कृष्ण काव्य की ही एक उपशाखा है, जो भक्ति का संरक्षण छोड़कर शृंगार की रूढ़ रीतिबद्ध गलियों में भटकती रही । इधर कुछ शृंगार और रस-मंजरियों की हस्तलिखित प्रतियां मिली हैं, जो इस परपरा से हटकर नायक-नायिका भेद को सही माहौल के साथ प्रस्तुत करके साहित्य की एक अज्ञात धारा की ओर संकेत करती हैं । ये कृतियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि रीति-काव्य 'राधा-कन्हाई' का आश्रय लेकर ही नहीं चला, इस्लामी संदर्भों ने भी उसे स्वीकार किया और भक्तिकाल में एक ओर जहां 'सूफियाना कृष्ण काव्य' की परंपरा[1] को जन्म मिला, वहीं दूसरी ओर 'सूफियाना रीति काव्य' की लहर भी उठी और वह भी चिंतामणि जैसे रीति काव्य धारा के तथाकथित प्रवर्तक के पहले । यद्यपि ये धाराएं बलवती कभी नहीं हुई, पर इनसे यह पता लगता है कि साहित्य-संगीत-चित्र के त्रिआयामी फलक पर मध्ययुगीन सांस्कृतिक संघर्ष किस प्रकार सहयोग की मुद्रा में आ रहा था और भावी सामासिक संस्कृति के उद्भव की भूमिका बन रही थी । इसी स्थिति की ओर संकेत करने वाली एक अज्ञात रचना का यहां परिचय दिया जा रहा है जिसका नाम है 'ईस्मायेल पठान कृत 'अष्टकला' अर्थात् 'रसमंजरी', जो सन् १६०५-२७ के बीच (तुलसीदास जी के जीवन काल में) अहिन्दी प्रदेश (महाराष्ट्र) में एक इस्लामधर्मी द्वारा रची गई थी और जिसमें 'ओंकार,' 'पीर', 'गणेश' और 'मोहम्मद'........ को एक घरातल पर 'सह-अस्तित्व' के सूत्र में बांधकर अविरोधी भाव से प्रस्तुत किया गया है ।

ईस्मायेल ने रसमंजरी की स्वीकृत परंपरा को मसनवी शैली में ढालने का प्रयत्न किया है । प्रारंभ में ही ओंकार की स्तुति के साथ 'नबी' का स्तवन जोड दिया है

हो अंकार अकार, रच्यो सकल संसार ।

\+ \+ \+ \+

बहुर बखानें दीनगुरु नबी महम्मद नाव ।

इस लेखक के जीवन की रेखाएं अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाई हैं । इनके सम्बन्ध में केवल इतना ही ज्ञात हो सका है कि ये मंगरौल के मूल निवासी थे और पठान जाति के थे । ग्रंथ का प्रारंभ ही सूचना दे देता है"...... लिषितं पोथी अष्टकला की गुफवतार षजाच इसमायेल विनषवाज वाजीद पठान गरवानीक कबुरवतन देवीन मंगरौल के" । लगता है कि पठान 'दक्खिनी हिन्दी-मराठी' के प्रदेश के निवासी थे क्योंकि इनकी रचना में इस अंचल के कतिपय शब्द दिखाई पड़ते हैं[2] । मराठवाड़ा में एक मंगरौल है भी और यहां पर 'पठान' वंशनाम के लोग अब भी मिलते हैं । जिस गुटके में रचना मिली है, उसमें एक और रचना लिपिबद्ध है...'शृंगारमंजरी'[3] । इसकी पुष्पिका में स्पष्टतः लिखा हुआ है कि वह 'मालव देश' में रची गई

१ देखिए—'अस्त्रीकृत उपलब्धियाँ, डॉ० प्रभात ( हिंदी का आदिकालीन कृष्ण काव्य—सूफियाना कृष्ण-काव्य)

२ इन शब्दों के कृति में आ जाने का एक कारण यह भी हो सकता है कि इसको औरंगाबाद में लिपिबद्ध किय गया था ।

३ गिरधर प्रोहित कृत शृंगारमंजरी । यह हिन्दी की प्रथम शृंगार-मंजरी है । चिंतामणि की शृंगार-मंजरी से कम से कम चौथाई शताब्दी पूर्व यह लिखी जा चुकी थी । (संप्रति प्रकाशनाधीन है । )

थी और लिपिबद्ध हुई औरंगाबाद में । प्रस्तुत कृति की पुष्पिका में रचना का प्रदेशन देने का एक ही कारण प्रतीत होता है कि वह कृति एक स्थानीय लेखक की रचना थी और उसकी रचना लिपि-करण के स्थान पर हुई थी ।

इस रसमंजरी का रचना-काल उपलब्ध नहीं है, पर अप्रत्यक्ष साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि वह सन् १६०५ और सन् १६२७ के बीच (१६२० के आसपास) कभी लिखी गई होगी । इस निष्कर्ष के दो कारण हैं :

क) लेखक ने शाहेवक्त का उल्लेख करते हुए कहा है...
दिल्ली पति असलेमनर: नूरदीन जहंगीर ।
तुरी चढ़त धरती धुके, साहस ध्यारस धीर ।।
जहांगीर के राज में, दलिद्र गयो दधि पार ।
घर घर लक्ष्मी बास लिय, भयौ जगत अध्यार ।।

जहांगीर का राज्यकाल सन् ९६०५ से १६२७ तक है इसलिए इसकी रचना-तिथि की यही पूर्ववर्त्ती तथा परवर्त्ती सीमायें हैं ।

ख) इस मंजरी के साथ लिपिकृत ग्रन्थ 'रस-मंजरी' की पुष्पिका में उसका रचना-काल दिया गया है-सन् १६३२ (संवत् १६८९ । सोलह नव्यासीय विक्रम सूर नरेशः) और उसे लिपिबद्ध किया गया था सन् १६५० ई० में (संवत् १७०७ वर्ष मार्गशर वदि ३ दने पूणया अरके सिध-योगे) ।

इस रसमंजरी का नाम लेखक ने 'अष्टकला' रखा है, पर बीच-बीच में 'रसमंजरी' अभिधान द्वारा भी उसकी ओर संकेत किया है [1]। लेखक के अनुसार प्रणय-रस अष्टकलामय है[2]। इस 'अष्टकला' शब्द की व्याख्या उसने नहीं की । हो सकता है कि 'अष्टनायिकाओं' के कारण या नायिका के शुक्लपक्ष के अन्तिम आठ दिनों के विकसित चन्द्र के सादृश्य पर इस नाम का चयन किया गया । 'प्रणय-रस' के संदर्भ में 'अष्ट' कदाचित् 'नायिका' की ओर ही संकेत करता है । इसमें किसी अन्य दार्शनिक या कलात्मक संकेत का खोजना उचित नहीं होगा ।

यह 'अष्टकला' सस्कृत रसमंजरी के आधार पर लिखी गई नायक-नायिका-भेद की एक ऐसी कृति है, जिसे अहिंदी प्रदेश में बैठकर एक मुसलमान कवि ने लिखा था । इसलिए इसमें कई परंपरायें एक साथ मिल गई हैं । हिन्दी की यह पहली और कदाचित् एक मात्र रसमंजरी है, जिसे सूफी-शैली (मसनवी) से प्रारंभ किया गया है। जामी के अनुसार 'मसनवी' काव्य में आख्यान प्रेम-प्रबन्ध, वीरकाव्य और कथापरक गुणों से युक्त होता है। प्रस्तुत ग्रंथ कथापरक नहीं है और न फारसी मसनवियों में प्रयुक्त होने वाली 'वह्रों' का (हजज, रमल, सारीखफीफ तथा मतकारिब) ही इसमें प्रयोग है, पर प्रारंभ शुद्ध सूफी ढंग से किया गया है । हर मसनवी 'अल्लाह की वन्दना से प्रारंभ होती है और उनके मेराज का भी इसमें उल्लेख आता है । इसके अनन्तर समसामयिक बादशाह या किसी महान व्यक्ति की स्तुति की जाती है ।[3] ' यह उल्लेखनीय है कि पठान कवि ने मसनवी शैली में 'हिन्दू और मुसलमान' संस्कृति को स्नेह के अदृश्य, पर, शक्तिमय सूत्र से बांध दिया है । 'खुदा' की जगह उसने 'ओंकार' का ध्यान किया है । इसके पश्चात् गुरु और ज्ञान की प्रशंसा की है... 'गुरु करि अंजन ज्ञान कौ सूझै सकल संसार' । ज्ञान-गुरु की इस महत्व-स्वीकृति के बाद वह नबी, कर्म-गुरु तथा पीर का स्तवन करता है—

---

१ 'रसमंजरी सहसकृत अष्ट कला बांधी थी ।'...पृष्ठ ८२

२ सोलह कला मयंक की, सुर अंचवेदीत ओर ।
अष्टकला रस पीयन कों, चतुरन चित्त चकोर ।।

३ मध्ययुगीन प्रेमाख्यान-काव्य, डॉ श्याममनोहर पाण्डेय, पृष्ठ २५६

बहुर बषानै दीनगुरु, नबी महमद नाव ।
चार षंभ जग थंमियो, चार–यार चहुं ठाव ॥
पीर बषानै, आपनो सेष फरीद मुखनूर ।
या सब आग्या में रहें मेघ पवन ससि सूर ॥
.........अदि ।

इस धार्मिक स्तवन और फारसी परंपरा को उसने भारतीय काव्य परंपरा से फिर जोड़ दिया है और मूलग्रंथ का प्रारंभ वाग्देवताओं (गणेश तथा शारदा) की स्तुति के साथ किया है ।[1]

यह 'अष्टकला' संस्कृत रसमंजरी (भानुदत्त) के आधार पर ही लिखी गई है । लेखक ने दो स्थानों पर इस बात को स्वयं कह दिया है .....

(१) सहसक्रित रसमंजरी करौ पराक्रीत वुरी ।
अष्टकला तेही नांव धरि रस सिंगार तरपुरि ।।[2]

(२) रसमंजरी सहसक्रित अस्टकला बांधी थी । चूरि करि भाषा बांधे पोथी अष्टकला करी ।[3]

पर, इस रचना को गहराई से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि पठान ने भानुदत्त के अतिरिक्त अन्य आचार्यों के नायिका–भेद-निरूपण को भी देखा था । हिन्दी की कतिपय रसमंजरियां हर लक्षण को 'यथा' से प्रारम्भ करती हैं, जैसे 'अज्ञात यौवन यथा' 'प्रोषित मर्तृका यथा', 'अभिसारिका यथा' आदि । यह भानुदत्त की शैली है । पठान ने इस रीति का अनुकरण नहीं किया । निरूपण में भी उन्होंने नायिका के कुछ नये भेदों को आग्रहपूर्वक प्रस्तुत किया है । 'संभोगिता नायिका' उसकी अपनी कल्पना है और वह इस कल्पना के सम्बन्ध में सचेत भी है ।[1]

पठान की रसमंजरी में उसकी कविता को पल्लवित होने का अवसर नहीं मिला । उसमें कविता लिखने की शक्ति है और यह असंभव नहीं कि भविष्य में उसकी और रचनायें भी प्रकाश में आयें । रीतिकालीन शिल्प और संस्कार रीतिकाल के जन्म के पूर्व एक अहिन्दी प्रदेश में बैठकर लिखने वाले कलाकार में पाया जाना, हिन्दी–साहित्य के इस काल के कृतित्व पर नये सिरे से विचार करने की प्रेरक सामग्री प्रस्तुत करता है ।

पठान हिन्दो–प्रदेश से दूर सामंतीय वातावरण में अपनी रचनाएं लिख रहा था । उसके लिए उस युग की भक्ति और संगीत की सुललित भाषा (ब्रजभाषा) पर अधिकार प्राप्त कर लेना उसकी वैयक्तिक साधना का ही द्योतक नहीं है, ब्रज के विकसित वैभव की लोकप्रियता की ओर भी संकेत करता है । 'गति मराल कटि केहरी, वेनी विषम भुजंग' जैसी पंक्तियां रीतिकाल के समर्थ कवियों को भी सम्मान प्रदान कर सकती हैं तथा 'तुरी चढ़त धरती धुके' या 'घर–घर लक्ष्मी बाम लिये' में लोक-जीवन की सहज उक्ति–भंगिमा और अलंकृति यह प्रश्न उठाती है कि काव्य रीतियों के ढांचे के बावजूद क्या ये कवि समकालीन जिंदगी के निकट नहीं थे ?

'अष्टकला' का महत्व उसके नायक–नायिका–भेद –निरूपण के कारण उतना नहीं है, जितना कि हिन्दू–मुसलिम संस्कृतियों के सामंजस्य की साधना, रीतिकाल के प्रवर्तक चिंतामणि त्रिपाठी के पूर्व एक रीतिग्रंथ की रचना और हिन्दी–प्रदेश से, हिन्दी के साहित्यिक सृजन की मूल धारा से दूर बैठकर सुललित भाषा-प्रयोग के कारण है । संयोग की बात है कि

१ प्रथम प्रणमि गणेश तुव, तू बुद्धि कौ भंडार ।
इसमाइल बिनती करै, कर जोरी दरबार ।।
ओं नमों जै सारदा, सब जगु ध्यावै तोहि ।
ते जगु कु पंडित कियो, तनक मया करि मोहि ।।

२ हस्तलिखित प्रति, पृष्ठ ७२
३ हस्तलिखित प्रति, पृष्ठ ८२

'अष्टकला' की कुछ पंक्तियां मध्यकालीन काव्य-साधना से संबंधित कतिपय ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर भी प्रकाश डालती हैं, जो इधर अनुसंधित्सुओं की कड़ी परीक्षा लेते रहे हैं। एक प्रश्न तो 'हकायके हिंदी' द्वारा ही जगाया गया है। अब्दुल वाहिद बिलग्रामी ने अपनी इस बहुचर्चित कृति में उन शब्दों और संकेतों अर्थ के दिये हैं, जो 'विष्णु पद' ध्रुव 'पद' और 'अन्य' (काव्य) से सम्बन्धित है [1]। श्री रुद्रकाशिकेय ने इन शब्दों की तर्क संगत व्याख्या की है [2]। 'अष्टकला' में भी इन शब्दों का प्रयोग है। पठान का कहना है कि......

'धुरपद (?) विसुनपद द छवि, गीत कबीत नराज।
नाव नायेका बिन रहे, समयो अरथ अकाज ॥

इससे तथा इसके साथ अन्य पंक्तियों से पता लगता हैं कि पठान के समय काव्य की तीन पद्धतियाँ प्रचलित थीं—

(क) ध्रुपद (संगीत प्रधान काव्य)
(ख) विष्णुपद (भक्ति प्रधान काव्य)
(ग) विशुद्ध काव्य जो संगीत और भक्ति के अतिरेक से मुक्त गीत, कवित्त, नराच आदि छंदों और गीतादि काव्य-रूपों में बंधा था।

वस्तुत:ये तीन काव्य-पद्धतियां उस युग के सूफियों में विशेष लोकप्रिय थीं। बाहर मुल्ला लोग उन संगीतकारों और कवियों का विरोध कर रहे थे, जो साहित्य और संगीत के प्रवाह में पड़ कर इस्लाम की मूल धर्म भावना से दूर हटते जा रहे थे। इस दुर्निवार धार्मिक नियंत्रण की काव्य क्षेत्र में बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया थी, जिन्होंने कृष्णकाव्य की नयी इस्लामपरक व्याख्या प्रारंभ कर दी और यह भ्रम उत्पन्न किया कि कृष्णकव्य का रचयिता मुसलमान धर्म की बात करता रहा।[3] दूसरी प्रतिक्रिया पठान जैसे कवियों में हुई। यह प्रतिक्रिया विद्रोह के स्फुलिंग अपने में दबाये थी। उसने भक्ति और संगीत की अतिशयता के विरुद्ध शुद्ध जीवन-परक रसात्मक काव्य का स्वर ऊंचा किया। उसने कहा कि 'तुम्हारा ध्रुपद, विष्णुपद ठीक है, पर नायिका के बिना उनमें समय लगाना समय का अर्थहीन अपव्यय है। दुर्भाग्य की बात है कि यह विद्रोह जो भक्तिकाल में भक्तिसाहित्य के विरुद्ध हुआ था, काव्य-रीतियों की संकुचित गलियों में भटककर सामंतों के उपभोग कक्षों में रम गया। इस उपभोगमूलक योग्यता के कारण काव्य एक व्यवसाय बन गया और इसलिये काव्य-रचना के सांचे निर्मित हो गये और परिणाम यह हुआ कि वह विद्रोह पालतू बनकर पुंसत्वहीन हो गया। पठान स्वयं इसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का शिकार है, पर पठान जैसे कवियों की कवितायें अन्वेषण करने पर अपना ऐतिहासिक महत्व रखती हैं और रीतिकालीन काव्य के अभ्युत्थान पर नये सिरे से सोचने के लिए विचारणीय सामग्री प्रस्तुत करती है [2]

---

१ हकायके हिन्दी, पृष्ठ ३१ २ वही, पृष्ठ १६-२०

६ 'यदि हिंदवी वाक्यों में कृष्ण अथवा अथवा उनके अन्य नामों का उल्लेख हो तो इससे रिसालत पनाह सल्लम (मुहम्मद साहब) की ओर संकेत होता है......यदि हिंदवी वाक्यों में गोपी तथा गूजरी का उल्लेख हो तो इससे फरिश्तों की ओर संकेत किया जाता है।'......हकायके हिंदी, मीर अब्दुल अहमद बिलग्रामी, पृष्ठ ७३, ७४।
'यदि हिंदवी वाक्यों में नहीं सिधारो जहां रति मानी' भावे तो इससे इस आयत के अर्थ की और संकेत होता है। अपनी पीठ के पीछे लौटो और प्रकाश ढूंढो।'
हदीस में आया है 'मनुष्य अपने प्रियतम के साथ रहता है।.........।' वही, पृष्ठ ६७

बंबई विश्वविद्यालय, बंबई

# कश्मीरी तथा हिन्दी व्युत्पादक प्रत्ययों का तुलनात्मक अध्ययन

—कुमारी उषा पंडिता

## व्युत्पादक पूर्वप्रत्यय

हिन्दी में पूर्व–प्रत्ययों का व्यवहार संज्ञा, विशेषण, क्रिया, क्रिया विशेषण के पूर्व होता है तथा इनके योग से संज्ञा, विशेषण, क्रिया तथा त्रियाविशेषण व्युत्पन्न होते हैं।

### हिन्दी पूर्व प्रत्यय

| | | | |
|---|---|---|---|
| अ-) | पू प्र० | सं० | सं० |
| | अ– | काल | अकाल |
| | अ– | चेत | अचेत |
| अन-) | | | |
| | पूप्र० | सं० | सं० |
| | अन- | हित | अनहित |
| अल-) | | | |
| | पू प्र० | सं० | सं० |
| | अल– | मस्ती | अलमस्ती |
| ( उ– 1 ) | पू प्र० | क्रि० | क्रि० |
| | उ- | कम | उकस |
| ( –उ 2 ) | उ- | नींद-आ | उनींदा |
| ( कु- ) | कु- | काठ | कुकाठ |
| | कु- | शकुन | कुशकुन |

इसी प्रकार हिन्दी में दर, बु, नि, फिल, पर, बर बहर, बा, बे, बै, ला, स–, आदि पूर्व–प्रत्यय मिलते हैं।

### कशमीरी पूर्व–प्रत्यय

हिन्दी भाषा की तरह ही कशमीरी में भी पूर्व प्रत्ययों का व्यवहार संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, क्रियाविशेषण के पूर्व करते हैं। ये संज्ञा, सर्वनाम क्रिया, क्रियाविशेषण प्रातिपदिकों की व्युत्पत्ति करते हैं। उदाहरणतया :–

| | | | |
|---|---|---|---|
| ( अ- ) | पू प्र० वि० | वि० | वि० प्राति० |
| | अ- | पोज पुज | अपुज |
| | अ- | शोद | अशोद |
| ( अन- ) | अन | बन | अनबन |
| ( अनि-) | अनि | वखुतास | अनिवखुतस |
| ( क्री-) | क्री | सिपथ | क्रीसिपथ |
| ( दर- ) | दर | हकीकथ | दर हकीकथ |
| ( नि- ) | नि | डर | निडर |
| ( ने- ) | ने | जबान | नेजबान |
| (फिल-) | फिल | हाल | फिलहाल |
| ( बि- ) | ब | नाव–नाम | बनाम |
| (बर- ) | बर | जबान | बरजबान |
| ( बा- ) | बा | तमीज़ | बातमीज़ |
| ( बे- ) | बे | यजथ | बेयेजथ |
| ( ला- ) | ला | इलाज | लाइलाज |
| ( बद- ) | बद | दिमाग | बददिमाग |
| ( सु- ) | सु | ढ़ौल | सुढ़ौल |
| ( स- ) | स | परिवार | सपरिवार |
| ( हम- ) | हम | दर्द | हमदर्द |
| ( नेथ-) | नेथ | नोन | नेथनोन |
| ( इक- ) | इक | मोथुर | इकमोधुर |
| ( वु- ) | वु | नेन्दुर | वुनेन्दुर |
| (अड- ) | अड | बोथ | अडबोथ |

### दोनों भाषाओं के पूर्व–प्रत्ययों की तुलना :–

(1) हिन्दी तथा कशमीरी भाषा में कुछ एक प्रत्यय समान रूप से प्रयुक्त होते हैं। ये हैं:–

को, दर, बा, बे, बिला, ला आदि

उदाहरणतया:–

| | |
|---|---|
| कशमीरी में | सुढौल |
| हिन्दी में | सुढौल |

इसी प्रकार सपरिवार फिलहाल, दरअसल हिन्दी का उनींदा

कशमीरी 'वुनेन्दुर' के समान है। इसमें हिन्दी के 'उ' प्रत्यय का कश० में 'वु' मिलता है।

## व्युत्पादक पर–प्रत्यय

पर–प्रत्ययों का व्यवहार संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रियाविशेषण प्रातिपदिक तथा धातुओं के पश्चात् होता है। इन प्रत्ययों के योग से दूसरे प्रकार के प्रातिपदिक तथा धातु–रूप व्युत्पन्न होते हैं।

### हिन्दी पर प्रत्यय :–

| | | |
|---|---|---|
| —इज्म) | बुद्धिइज्म | (सं०) |
| —पन) | अपनापन | (सं०) |
| —आइद) | कवाइद | (सं०) |
| —इश) | बंदिश | (सं०) |

### धातु के साथ

| | | |
|---|---|---|
| बैठ | अक | बैठक |
| सड़ | आव | सड़ाव |

### क्रिया विशेषण के साथ

| | | |
|---|---|---|
| पैदा | वार | पैदावार |
| जरूर | अत | जरूरत |

### सर्वनाम के साथ

| | | |
|---|---|---|
| आपस | ई | आपसी |

### विशेषण के साथ

| | | |
|---|---|---|
| गर्म | आ | गरमा |
| नर्म | आ | नरमा |
| अक० धातु | प प्र० | |
| उखड़ | -0- | उखाड़ |

### कशमीरी व्युत्पादक पर–प्रत्यय

कशमीरी भाषा में भी हिन्दी भाषा की तरह पर-प्रत्यय संज्ञा, सर्वनाम, क्रियाविशेषणों के पश्चात् लगकर अन्य संज्ञा, सर्वनाम क्रिया विशेणों की व्युत्पत्ति करते हैं ये प्रत्यय हैं :–

संज्ञाओं में :

—उर

| | | |
|---|---|---|
| | भोंड | म्वंडुर (संज्ञा प्रातिपदिक) |
| | फोत | फवं |
| | वोछ | (वछुर) |
| —इन्य) | हांस | हसितिन्य |
| —अन्थ) | बेटुं | बटन्य |
| —प्रोन्य) | साल | सालरेन्य |
| —औन्य) | पंडिथ | पंडितो्न्य |
| —तुर ) | मास | मासतुर |
| — तुर ) | मास | मासतुर |
| — वोन्य) | तील | तिलवोन्य |
| —युन ) | मोल | माल्युन |
| —आत) | जवाहर | जवाहरात |
| —आवेज) | दस्त | दस्तावेज |
| —इश ) | तफ | तपिश |
| —कार) | जय | जयकार |
| —कुन ) | कार | कारकुन |
| —गार) | याद | यादगार |
| —गि ) | बंदुं | बंदुंगी |
| —दान) | कलम | कलमदान |
| —दोनि) | मछर | मछरदो्नि |
| —आब) | गुलाब | |
| —खोर ) | | चुगलखोर |
| —गर ) | | को्रिगर |
| —गीर ) | | तमाशगीर |
| —गीरी) | | सबरगीरी |
| —गी ) | | पेशगी |
| —चस्प ) | | दिलचस्प |
| —चुं ) | | ढ़ीगचु |
| —जादुं) | | शाहजादुं |
| —वार ) | | नसवार |
| —न ) | | इतफाकन |
| —नामुं) | | मुखतारंनामुं |

—पोश )   मेजपोश
--बर )   पेगामबर
—बन्द )   येजारबन्द
—बाज )   धोखुबाज
—बान )   बागवान
—बीन )   दूरबीन
—शन )   गुलशन
—वार )   जानावार
—पूत )   कावपूत
—कठ )   चूरे कठ
—कोट )   वटु कोट
—यार )   केहन्यार

विशेष० प्रातिपदिकों में

—उल )   गाटुल
—अंज )   गार्दुज
—वय )   दोनवय
—त्रे )   त्रववय
—चोर )   चोनवय

संख्यावाचक विशेषणों में :–

— वोद )   सासबोद
  लछवोद
—उलुं )   कुोणडुल
—युनु )   मल्युन्
—उनु )   दगुन

भाव वा० विशेषण :-

—नाक )   दर्ददनाक
—मंद )   दौलतमंद
—उन )   पंनुन
—उल )   रातुल
—कुन )   गामनकु
—फोल )   दौफोल

—हना )   श्रोबुटहना

सर्वनाम से विशेषण प्रातिपदिक

—उल )   यि—पीऊत
  ति—जीऊत
—युन )   त्यूत—तीत्युन
—उक )   कति—कतियुक

विशेषण से क्रिया विशेषण प्रातिपदिक :-

—युम )   ब्रोंद   ब्रूंठ्युम
  पथ   पत्युम
—स )   कोज   कूंजिस
—श्रन )   मंदिउन   मंदि'न
—कुन )   ब्रोंठ   ब्रोन्ठकुन

नामधातु की व्युत्पत्ति :-

—उन )   लार —उन — लारुन
  जान —उन — जानुन

प्रेरणार्थक धातु :-

| | श्रकर्मक धातु : | प्रेरणार्थक धातु |
|---|---|---|
| —नाव ) | भास | भासनाव |
| | बिह | बिहनाव |
| —वान ) | प्रस | प्रसवान |

इसी प्रकार :-

| | |
|---|---|
| यि | यिवान |
| चि | चावान |
| नि | न्यावान |

दोनों भाषाश्रों के व्युत्पादक पर–प्रत्ययों में काफी समानता देखी जा सकती है। हिन्दी की तरह ही कशमीरी भाषा में स्वरों के विकार होते हैं । प्रत्यय जुड़ने से पूर्व स्वरों के पहले कुछ होता है श्रौर उसके बाद कुछ श्रौर ।

उदाहरण हिन्दी में :-

: मीठा आ—आस मिठास ( ई से इ )

: ढीठ —आई ढिटाई ( ई से इ )

इसी प्रकार कशमीरी में :-

—अुर )

वोछ वछुर (ओ का अुं हुआ है)

—युन )

मोल माल्युन (ओ का आ में

—वोन्य )

: 'काश्त' शब्द में में 'कार' प्रत्यय के जुड़ने के पश्चात्

काश्त—कार काशकार ( त का लोप)

स्वर परिवर्तन का एक अन्य उदाहरण :-

कशमीरी में : गंगुर पु० संज्ञा० प्रातिपदिक है । 'गंगुर' के अन्त के उर को अुंर में बदल देने से एक अन्य स्त्रीलि० वाचक संज्ञा प्रातिपदिक की व्युत्पत्ति होती है ।

: गंगुर गंगुंर

: कातुर कातुंर

इसी रूप के ये प्रत्यय भी मिलते हैं—

—उलु ) गाटुंल फुटुंल

—अुंज ) गाटूंज फुटुंज

—ओट ) पोट

अंट पुंट

ओल : ओंल

बोंल बांज्

इसी प्रकार-लद तथा-दार प्रत्यय हैं । ये दोनों व्युत्पादक पु० प्रातिपदिक हैं ।

(—लद ) :- पोखलद

द्दोखलद

(—दार ) अलाक़दार

इसी प्रकार 'दार' तथा 'लद' विभक्ति में परिवर्तन करने से स्त्री लिं० व्युत्पादक प्रत्यय बनते हैं ।

: दार दारेन्य

आर में ऐन्य जोड़कर

: लद लदिन्य

लद में इन्य को जोड़कर

: दोखलद दोखलदिन्य

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण में :-

: अर में ऐन्य जोड़कर अन्य व्युत्पादक प्रत्यय ।

: सालेर सालरेन्य

: कांदुर कांदरेन्य

परिवर्तन का एक अन्य रूप :-

(—तुर) एक पुं० व्युत्पादक प्रातिपदिक है ।

(—तुर) तुर के उर को अुंर में परिवर्तन से स्त्री लि० प्रातिपदिक बनते हैं ।

उदाहरण :-

मासतुर मासतुंर

पोफतुर पोफतुंर

यह सभी प्रत्यय तथा स्वर-विकार कशमीरी भाषा में विशेष रू से मिलते हैं ।

 शोध छात्रा
स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू ।

# अलंकार-विधान और भाषा-संरचना

डॉ० ओमप्रकाश शर्मा
शास्त्री, एम. ए., पी-एच. डी, डी. लिट.

भाषा ही अभिव्यक्ति का सफल एवं सबल माध्यम है। संकेतादि से जो भावाभिव्यक्ति होती है वह भाषा की अभिव्यक्ति से अधिक स्पष्ट तब तक नहीं होती जब तक कि पूर्व-निर्धारित विषय-गत न हो अर्थात् दो व्यक्तियों में निश्चित संकेत निश्चित अर्थदायक स्वीकार न किए गये हों। गूंगे व्यक्तियों के संकेत भी निश्चित अर्थ बोधक होते हैं। इस लिए भाषा ही स्पष्टार्थ बोधिनी है।

विश्व में बिखरे मानव-जाति के समूहों, वर्गों, जातियों एवं राष्ट्रों की भाषाओं को बोलियों, विभाषाओं, राष्ट्र भाषाओं और अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं का पद क्रमशः प्राप्त हुआ है। इस पदोपलब्धि के पीछे उनकी साहित्यिक समृद्धि प्रधान कारण रही है। साहित्यिक समृद्धि के भी विविध पक्ष हैं। शुद्ध साहित्यिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक, चिकित्सा आदि पक्षों से कई भाषाएं अत्यन्त समृद्ध हैं। परन्तु मूलतः इन भाषाओं की समृद्धि का आरम्भ साहित्य-रचना से होता है। शेष पक्ष तदनन्तर काल-क्रम से विकसित होते गये हैं।

साहित्य-रचना में जिस भाषा का प्रयोग होता है, उसका प्रारम्भिक प्रयोग-स्वरूप दैनिक भाषा से लोकभाषा या लोक बोली से विकसित होकर साहित्यिक भाषा तक पहुँचता है। संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, ब्रजभाषा और खड़ी बोली का विकास-क्रम इसी भांति हुआ है। अवधी, भोजपुरी, पहाड़ी, पूर्वी-पश्चिमी आदि भाषाओं, बोलियों की स्थिति भी यही है। इन सब का साहित्य आज उपलब्ध है।

साहित्य की शक्ति भाषा की गरिमा से अधिक प्रभाववती बनती है। यह प्रमाणित है कि प्रत्येक रचनाकार की भाषा किसी न किसी अंश में भिन्न होती है। भाषा से ही तो वक्ता एवं रचनाकार पकड़ा-पहचाना जा सकता है। प्रेमचन्द, रवीन्द्र, जयशंकर प्रसाद, निराला, सुमित्रानन्दन पंत, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, गांधी जी, पं० जवाहर लाल नेहरू, आचार्य नरेन्द्रदेव, महादेवी वर्मा, जैनेन्द्र आदि विविध क्षेत्रों के व्यक्तियों की पहचान भाषा से तुरन्त हो जाती है।

अब प्रश्न यह है कि रचनाकार की अपनी-अपनी भाषा तो होती ही है तब वह क्या करता है जिससे दूसरे प्रभावित होते हैं? हम सभी जानते हैं कि सभी रचनाकार अपनी भाषा में ऐसा लालित्य एवं चमत्कार लाने का प्रयत्न करते हैं जिस से श्रोता तथा पाठक मुग्ध हो जाते हैं। उसी लालित्य एवं चमत्कार को लाने के लिए रचनाकार उपमानों की खोज करता है। आप यह न समझिए कि केवल संस्कृत-हिन्दी अथवा भारतीय भाषाओं का साहित्यकार ही ऐसा करता है। मेरा विश्वास है कि विश्व भर की बोलियों एवं भाषाओं में ही रचनाकार उपमानों का प्रयोग किए बिना अपनी भाषा नहीं चला सकते हैं। भारत में तो न्याय-व्याकरण आदि शास्त्रों में उपमान-प्रमाण एवं उपमावाची शब्दों का विवेचन किया ही गया है परन्तु विश्व के अन्य देशों में भी उपमानों का अपने ढंग से प्रयोग होता आया है। हो भी रहा है, होगा भी। उपमान त्रिकाल-भाषा से सम्बद्ध है।

अब बात सीधी हो गयी कि भाषा-संरचना में लालित्य-सौन्दर्य और चमत्कार के लिए स्थान रहता है। आप इन्हें व्युत्पत्ति-गत अर्थ से पृथक् पृथक् अर्थ-छाया-दायक

शब्द मान सकते हैं, परन्तु अपने आन्तरिक सम्बन्ध से सभी एक सूत्र में बंधे हैं कि इन से भाषा का प्रभाव बढ़ता है। भाषा में गति आती है।

भाषा की इसी गतिशीलता के लिए अलंकारों का भाषा–संरचना में सहयोग विवेच्य है। चमत्कार या सौन्दर्य तो अलंकार का पर्याय ही बना हुआ है परन्तु भावाभिव्यक्ति के द्वारा अलंकार भाषा में कितना चमत्कार लाते हैं यह पद्य-गद्य में प्रयुक्त अलंकारों से व्यक्त है। तब भी व्याकरण के पद–वाक्य–गत संयोजन से एवं विशेषण–विशेष्य के प्रयोग से आलंकारिक-भाषा-संरचना का स्वरूप कैसे निखरता है, यह भी कम रोचक विषय नहीं है।

सब से पहले शब्दालंकारों को लीजिये। शब्द से ही तो भाषा के पांव चलते हैं। आलंकारिकों ने भी शब्द से ही अपने सम्प्रदाय का आरम्भ किया। भाषा का सौन्दर्य शब्दालंकारों से ही अंकुरित हुआ। अनुप्रासालंकार को लीजिए। भाषा के वर्ण से उसका सम्बन्ध जुड़ा है। व्यंजन की आवृत्ति से भाषा में लालित्य आ जाता है। दो उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट किया जाता है...

(क) लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।
लाली देखन में गयी मैं भी हो गई लाल ॥
(कबीर)

(ख) तरणि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

पहले उदाहरण में 'ल' वर्ण की आवृत्ति कितनी प्रभावशालिनी भाषा की रचना करने में समर्थ है! लाली पद से कितने अर्थ निकलते हैं! लाल की लाली... चमक, शोभा, अलौकिक शोभा का अर्थ देती है। 'तित लाल' से लाल की व्यापकता और 'मैं भी हो गई लाल' से आत्मा–परमात्मा का एकात्मक सम्बन्ध द्योतित होता है। अब बताइए अनुप्रासगत ल वर्ण की आवृत्ति ने भाषा–संरचना में कितना सौन्दर्य ला दिया है। यही दशा दूसरे उदाहरण में यमुना तट के वृक्षों के बिम्ब-विधान में है।

छेकानुप्रास को भी देख लीजिए। छेक का एक अर्थ विदग्ध जन है और दूसरा अर्थ है कि 'छेक शब्देन कुलायाभिरतानां दक्षिणाँ अभिधानं 'अर्थात् अपने-अपने घोंसलों में अभिरत पक्षियों का कुलकुल का शब्द। इस छेकार्थ पर ही छेकानुप्रास बना है। पक्षियों की भाषा ने अलंकार का निर्माण किया है। इसे आप कविवर जयशंकर प्रसाद की उक्ति से ठीक पहचान पाएंगे...

खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा
किसलय का अंचल डोल रहा
लो यह लतिका भी भर लाई
मधु मुकुल नवल रस गागरी
बीती विभावरी जाग री ॥

यहां यमक और अनुप्रासालंकार ने भाषा–सरचना में कितना प्रभाव और सौन्दर्य ला दिया है! वृत्यनुप्रास में वृत्तियों के अनुकूल मधुर, कठोर वर्णों का विन्यास सर्वज्ञात है। अन्त्यानुप्रास में तो अंतिम वर्ण ही प्रभावशाली भाषा का रूप व्यक्त करता है। श्रुत्यनुप्रास की दशा में नाद–सौन्दर्य का महत्व है। रही लाटानुप्रास की बात। उसे वाक्य–गत अलंकार माना जाता है। इसमें वाक्यावृत्ति होते हुए भी अर्थ–भिन्नता है। 'पराधीन जो जन नहीं स्वर्ग नरक ता हेत' ..जैसी प्रसिद्ध पंक्ति को दो बार लिख कर अर्थभिन्नता से लाटानुप्रास प्रमाणित किया जाता है। परन्तु द्रष्टव्य यह है कि इस अनुप्रासालंकार ने भाषा का कितनी क्षमता प्रदान की है कि एक ही वाक्य के दो-दो अर्थ हो गये हैं। यमकालंकार भी मूलत: अनुप्रासाश्रित ही है। उसे श्लेषानुप्रास भी कहा जाता है। इसमें सार्थक के साथ निरर्थक पदों की आवृत्ति को भी स्थान दिया गया है। निरर्थक पद भी भाषा में रहते हैं। अजागलस्तन निरर्थक शब्द भाषा से चिपटे रहते हैं। यमक श्लेषालंकार का ही रूप है। श्लेष में आवृत्ति नहीं होती

जबकि यमक में आवृत्ति अनिवार्य है। भाषा में पदावृत्ति से भी सौन्दर्य आता है। अलंकार को जिन आचार्यों ने अभिधान का प्रकार विशेष माना है उनकी दृष्टि भाषा की संरचनात्मक स्थिति पर अवश्य रही है। जतुकाष्ठवत् सभंगाभंग श्लेष अपना काम पद के अर्थद्वय देने में इतनी सार्थकता से करता है कि भाषा की सामासिकता अर्थवती हो जाती है। वक्रोक्ति भी श्लेषानुप्राणित है। श्लेष-वक्रोक्ति का द्वयार्थक होना इसी आधार पर सिद्ध है और इस वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः' ने भामह के द्वारा शब्दाबद्ध होने पर 'को ऽ लंकरोनया बिना' से अपना क्षेत्र-विस्तार इतना किया है कि वक्रोक्तिकार कुन्तक ने पद से लेकर प्रबंध तक (लिंग-वचन, विशेषण, वाच्य, काल आदि से समन्वित) वक्रोक्ति काव्यजीवित का जो जाल फैलाया है, वह भाषा-संरचना को ही तो बल देता है। भाषा की अभिव्यक्ति शक्ति को वक्रोक्ति के विवेचन से अलंकार एवं पृथक् सम्प्रदाय के रूप में जितनी सफलता मिली है, वह अनुपम है। वक्रोक्ति अलंकार का एक भेद काकुवक्रोक्ति है। काकु तो काक भी है कोकिल भी। 'गौरवशालिनी' पद को आप एक बार कहिये तो कोमल-कांत पदावली में किसी महिला का सम्मान बढ़ा देंगे और गौ + र व + शालिनी तोड़ तोड़ कर जोर से कि कहिए तो काक-भाषा का काकु-गत उच्चारण सुन कर महिला को श्लेषगत अर्थ समझ आया कि आप ने उसे गाय के समान रंभाने वाली कहा है तो वह भी वाणी का ऐसा सींग मारेगी कि आप चारों खाने-चित गिर कर ही हाय हाय करते रहेंगे। अब बताइए कि काकुवक्रोक्ति में भाषा को सप्राण बनाने की कितनी शक्ति है। पुनरुक्ति भी शब्दालंकार है। अपनी बात पर बल देने के लिए पुनरुक्ति की जाती है। कविवर पन्त ने टीट्रि टुट टुट की पुनरुक्ति संध्याकाल में घरों को वापस जाते श्रमिकों के आतुर मन से बढ़ती पदचाप के साथ पक्षियों की बोली से की है। भाषा में प्रकृति-सौन्दर्य के साथ मानव-मानस की भावाकुल स्थिति की ध्वनि कितनी मुखर हो उठी है। ध्वनि-सिद्धान्त की दृष्टि से कविवर पन्त की ये पंक्तियां विशिष्टार्थं बोधिनी हैं। पुनरुक्तवदाभास में पर्यायवाची शब्दों की क्रीड़ा रहती है। यद्यपि कोई भी शब्द दूसरे का पर्यायवाची नहीं होता है तब भी अर्थ की दृष्टि से समानता देख ली जाती है। परन्तु पुनरुक्तवदाभास में अर्थभिन्नता से काम लिया जाता है। 'सन्त जन अचल पर्वत समान थे' उक्ति में 'अचल' शब्द' 'पर्वत' का पर्याय है परन्तु 'अचल' पद का अर्थ जब 'व्रत से न टलने वाले' किया जाता है तो ही पुनरुक्तवदाभासालंकार का चमत्कार है। अब इस अलंकार ने दो भिन्न शब्दोंके पर्याय-प्रयोग से भाषा में रचनाकार द्वारा शब्द-प्रयोग की कुशलता ही तो प्रकट की है। भाषा को यदि शब्द-क्रीड़ा-कौतुकागार माना जाए तो भी इस अलंकार की सफलता सिद्ध है। चित्रालंकार तो भाषा का वर्ण-पदों का खिलवाड़ ही है। तलवार, कमलादि चित्र बनाए जाते हैं। प्रहेलिकालंकार भी भाषा का ही कौतुक है। इन दोनों अलंकारों से भाषा की विनोद और हास्यव्यंग्य की शक्ति का परिचय मिलता है। आज तो चित्रात्मकता भाषा का गुण माना जाता है। भाषा-सम भी एक अलंकार है। उसमें अनेक भाषाओं का प्रयोग रहता है आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में कहा है कि जहां एक ही प्रकार के शब्दों से अनेक भाषाओं में वही वाक्य रहे, उसे भाषा-सम अलंकार कहते हैं। जब अनेक भाषाओं में वे ही पद रहें, तब यह भाषा-सम अलंकार होता है और यदि पद भिन्न हो जाएं तो 'भाषा-श्लेष' होता है। श्लेष की चर्चा विस्तृत रूप से करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कहा है कि वर्ण, प्रत्यय, लिंग, प्रकृति, पद, विभक्ति, वचन और भाषा के श्लिष्ट होने के कारण वर्णश्लेष, प्रत्यय श्लेष आदि भेदों से यह अलंकार आठ प्रकार का हो जाता है। यहां विवेच्य यह है कि श्लेषालंकार भाषा की अभिव्यक्ति को कितना समर्थ बनाता है। उसके प्रयोग से रचनाकार अपनी भाषा को अनेक भावों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त करने में सफल होता है।

मेरे विचार में शब्दालंकारों से भाषा के विशिष्ट शब्दों को प्रयुक्त करने की प्रविधि का स्वरूप उभरता है। इसके अतिरिक्त अनुप्रास एवं यमक से भाषा का नादात्मक तथा संगीतात्मक पक्ष प्रकट होता है। श्लेष से भाषा की लाक्षणिकता तथा बिम्ब-योजना की क्षमता सिद्ध होती है। शब्दालंकारों ने समस्त अथवा असमस्त भाषा के अर्थ-विकास में विशिष्ट योग दिया है। कविर्मनीषी की सृष्टि और कविरेक: प्रजापति: की शब्दार्थमयी सृष्टि की भाषा में इन शब्दालंकारों का योग भाषा की संप्रेषणीयता का वाहक है।

शब्दालंकारों के अनन्तर अर्थालंकारों की सृष्टि में आ जाइये। शब्द तो वहां हैं ही। उनके बिना अर्थ कहाँ ? परन्तु अन्तर यही है कि शब्दालंकारों में शब्द-विशेष के प्रयोग का ही महत्त्व है। शब्द के परिवर्तन के साथ ही वहां अलंकार जीवित नहीं रहता उसका भाषार्थ ही परिवर्तित हो जाता है परन्तु अर्थालंकार तो अर्थाश्रित है। यह अर्थप्रधानता भी शब्दाश्रित ही है चाहे तदर्थवाची शब्द भिन्न हो। शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है जो विछिन्न नहीं हो सकता है। अविछिन्नता में ही उसका सारसंग्रह है। प्रधानतया अर्थालंकारों के सादृश्य, औपम्य, विरोध, शृंखला, न्यायमूलक, एव गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलंकार वर्ग किए गए हैं। इस वर्गीकरण का मूलाधार भी भाषा के विकास में प्रगति का अन्वेषण ही है, जिससे बदलते सामाजिक, राजनीतिक परिवेशों में उत्पन्न होने वाले मानसिक भावों की अभिव्यक्ति ठीक-ठीक ढंग से हो सके।

उपमालंकार में दो पदार्थों में प्रत्यक्ष समानता के लिए उपमेय और उपमान की योजना की जाती है। इसी उपमा के मालोपमा और रशनोपमा भेद भी प्रसिद्ध हैं जिसमें क्रमश: एक उपमेय के लिए अनेक उपमानों तथा रशना की भांति उपमानों की योजना की जाती है। आचार्य दण्डी ने सर्वप्रथम उपमा-भेदों का विस्तृत विवेचन किया था और तत्पश्चात् उपमान-विशेष के अधिकार पर भाषा का अभिव्यक्ति-सामर्थ्य प्रबल बना। भाषा में उपमानों की योजना नैतिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, प्राकृतिक स्तरों में देखी जाती है। इसका अर्थ यही हुआ कि उपमालंकार ने भाषा के लिए इतने क्षेत्रों में अबाध गति से अपने शब्दजाल का विस्तार करने का अवकाश प्रदान किया है। उपमा के उपमान, उपमेय, वाचक शब्द और समान धर्म के एक एक के तथा दो दो के लोप से लुप्तोपमा के भेदों के कारण भी भाषा में भावाभिव्यक्ति का सौन्दर्य निखरता है। उपमान के अग्रहण से तो वाक्यगत और समासगत उपमानलुप्ता उपमा का स्वरूप चाहे संस्कृत भाषा में दृश्यमान था परन्तु ब्रजभाषा तक इसका स्वरूप यथावत् बना रहा था तब के कवि इसे प्रयोग करते रहे। आज खड़ी बोली अधिक समस्त भाषा नहीं है। इस लिए वाक्यगत प्रयोग प्रमुखता से दृष्टिगत होते हैं। लुप्तोपमा के कई भेदों से भाषा में सामासिकता तथा वाक्य-विन्यास की नवीन प्रवृत्ति का जन्म हुआ। आचार्य विश्वनाथ ने उपमालंकार के श्रौती-आर्थी विवेचन-प्रसंग में क्यङ् क्यच् प्रत्यय की चर्चा की है। इव, यथादि से भी श्रौती-आर्थी उपमा-जगत् का निरूपण किया गया है। इसका सम्बन्ध संस्कृत भाषा से ही है परन्तु 'भिन्ने बिम्बानुबिम्बत्व शब्दमात्रेण वा भिदा' (जहां भिन्न होता है वहां या तो बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव रहता है या शब्द मात्र से भेद होता है।) कथन से भाषा में अर्थ के बल पर बिम्ब-विधान का पक्ष उपमालंकार से ही उद्घाटित हुआ है जो आज तक उपमान-योजना के कारण साहित्य में विकास-प्राप्त है। सादृश्यमूलक अलकारों में उपमा का प्रपंच ही प्रधान है। इस लिए भावाभिव्यक्ति के द्वारा अलकारों ने सादृश्य के बल पर भाषा में नए शब्दों की उद्भावना को अवसर प्रदान किया है। उत्प्रेक्षालंकार में 'मन्ये शंके-ध्रुवं प्रायो नूनमित्ये-वयादिभि:' से 'मानो' और 'जानो' पदों का प्रचलन हिन्दी भाषा में भी विद्यमान है। 'मानो', 'शंका', 'निश्चय', 'प्राय:' एवं 'जानो' पदों से भाषा में कितना कार्य सधता है, इससे कौन रचनाकार

इंकार कर सकता है। राजनीतिज्ञों की भाषा तो उत्प्रेक्षा और मिथ्याध्यवसित अलंकार की ऋणी है। आचार्य केशव मिश्र ने अपने 'अलंकार-शेखर' ग्रन्थ में उत्प्रेक्षालंकार का बड़ा गुणगान किया है। इसके अतिरिक्त रंग-योजना के लिए श्वेत, पीले, नीले, लाल एवं हरित आदि रंगों और वस्तुओं का निर्धारण भी किया है। पाप-पुण्य, धर्माधर्म आदि के रंगों की परिकल्पना भी की है। इसी का प्रभाव लेकर केशव ने 'कविप्रिया' में रंग-मिश्रण से भाषा-वैभव को द्विगुणित कर दिया है। सन्देह, भ्रांति एवं स्मरणालंकारों ने भाषा में मनोवैज्ञानिकता का प्रवेश करवाया है। निश्चयानिश्चय से संबंधित वाचक-पदों को भाषा में स्थान मिला है। अपह्नुति से निषेध और दुराव की शब्दावली ने अपने पंख फैलाए हैं। प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत और उदाहरणालंकार ने घटनाओं, समस्याओं तथा व्यक्तियों के लिए वाक्य-समानता, बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव एवं साक्ष्यबोध को भाषा में स्थान दिलवाया है। अन्योक्ति और अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार ने ही निंदा-स्तुति का शब्द-भंडार नहीं रचा अपितु व्याज-निंदा एवं व्याज-स्तुति के चमत्कार ने भाषा में मानव-मन की परतों में झांकने की प्रवृत्ति को उकसाया है। अन्योक्ति, रूपक, अतिशयोक्ति से तो भाषा में प्रतीकात्मकता आई है।

संज्ञा-पदों और वाक्यों की चर्चा से विरत होकर आप विशेषण और विशेष्य पदों को देखिए। परिकर में विशेषण पद का प्रयोग साभिप्राय होता है। विशेष्य पद का प्रयोग परिकरांकुर अलंकार में रहता है। भाषा में संज्ञा के पश्चात् विशेषण-विशेष्य का महत्व सर्वथा सिद्ध है। नई कविता एवं नए गद्य की भाषा में विशेषण और विशेष्य पदों का जो प्रबल प्रयोग हो रहा है, उसे तो सभी रचनाकार मानते हैं। यों तो हिन्दी काव्य के छायावादी युग से ही विशेषण-विशेष्य पदों का प्रयोग धारा-प्रवाह होने लगा था परन्तु नई कविता तो इन दो पदों से सार्थवती है। जैसे वीप्सा नामक शब्दालंकार में हर्ष-शोक, क्रोध-भय आदि के बोधक द्योतक अव्ययों का प्रयोग माना जाता है। ऐसे ही परिकर और परिकरांकुर में विशेषण-विशेष्य के प्रयोग बिना कार्य नहीं चलता है। अतिशयोक्ति अलंकार ने भाषा की अतिशयतामयी शक्ति को सिद्ध किया है। अतिशयता के बिना भाषा का संसार सूना लगता है।

पर्यायोक्ति अलंकार ने भङ्ग्यन्तर की स्थिति को भाषा में प्रस्तुत किया है। काव्यलिंग ने हेतु को और सूक्ष्मालंकार ने तो मनोवैज्ञानिक आधार पर इंगित-आकार-चेष्टादि की परिवेशगत स्थिति के बोधक शब्द भाषा को प्रदान किए हैं। विहितालंकार की भी यही दशा है।

लोकोक्ति-मुहावरे भी अलंकार की सीमा में हैं। भाषा में लाक्षणिकता के लिए इन दोनों का प्रयोग होता है। लक्षणा-व्यंजनानुगत अलंकार भी हैं। रूपक के भेद लक्षणा में तथा समासोक्ति-पर्यायोक्ति आदि का पक्ष व्यंजना से सिद्ध है और भाषा तो वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक पदों से गंगा-यमुना-सरस्वती सी त्रिवेणी रूपा बनती है। 'बिना' और 'सह' से चलने वाली विनोक्ति और सहोक्ति का रूप भाषा में 'बिना' और 'संग' की संगति को सगत सिद्ध करता है। इसी प्रकार अनुज्ञा, अवज्ञा, तिरस्कारादि अलंकारों ने भी भाषा-कलेवर को सुसज्जित किया है।

मैं इस विषय-विवेचन को अधिक विस्तृत न करके इतना कह कर ही समाप्त करना चाहता हूं कि अलंकारों और भाषा-संरचना के सहयोग क्षेत्र की ओर साहित्यिकों का ध्यान अभी यत्किंचित् ही आकृष्ट हुआ है। इस क्षेत्र में स्वतंत्र विवेचन एवं शोध से नए परिणाम साहित्य-जगत् के समक्ष आने की संभावनाएं हैं। इसलिए इस नवीन शोध-क्षेत्र की ओर भी दृष्टि-निक्षेप अनिवार्य है।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
दयालसिंह कालेज, नई दिल्ली-३

# आनन्दरामायण-एक अर्वाचीन रचना

श्याम नारायण राय

आनन्दरामायण के प्रारम्भ में लिखित-"श्रीमद्वाल्मीकिमहामुनिकृतशतकोटिरामचरितांतर्गतं-आनन्दरामायणम्" तथा प्रत्येक सर्ग को पुष्पिका में लिखित-"इति श्रीशतकोटिरामचरितांतर्गते श्रीमदानन्दरामायणे वाल्मीकीये ......काण्डे.......सर्ग:[2]...को पढ़ कर सामान्य पाठक को भ्रम हो सकता है कि रचना महर्षिक वाल्मीकि की होगी। कहीं भी स्पष्ट रूप से लेखक का नामोल्लेख नहीं किया गया है। ग्रन्थ के अनुवादक पाण्डेय श्री राम तेज शास्त्री भी ग्रन्थकार के सम्बन्ध में सन्देह व्यक्त करने के उपरान्त लिखते हैं—" अस्तु जबतक किसी धुरन्धर विद्वान् अन्वेषक को इस ग्रन्थ के ग्रन्थकार की खोज में सफलता न मिल जाय, तब तक प्रस्तुत महाग्रन्थ को महर्षि वाल्मीकि की सौ श्लोकात्मिका रचनाओं के अन्तर्गत मानते हुए अपने श्रद्धाङ्कुर को आनन्दरामायण की आनन्दमयी कथाओं के पावन गंगाजल से सींचना ही उपयुक्त होगा [3] "। लेकिन आनन्दरामायण के सतर्क अध्ययन से स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि आनन्दरामाणय के रचयिता आदिकवि महर्षि वाल्मीकि नहीं हो सकते। जो औदात्य, भावगांभीर्य एवं भाव-सौष्ठव, स्वभाविकता तथा प्रान्जलता आदि-कवि की रचना में है ;आनन्दरामायणकार उन भावों की छाया तक को भी नहीं छू सका है। दूसरा तथ्य यह है कि ग्रन्थ में जहाँ कहीं महर्षि वाल्मीकि का उल्लेख हुआ है, सर्वदा अन्य पुरुष में हुआ है [4]। महर्षि वाल्मीकि के नाम के साथ विशेषणों का प्रयोग किया गया है तथा उनकी प्रशंसा की गयी है ; जैसा कोई भी लेखक अपने सम्बन्ध में नहीं कर सकता [5]।

आनन्दरामायणकार को यह भी शका है कि उसने जो शतकोटिरामचरितांतर्गत अपने आनन्दरामायण को रखा है, लोग इसे स्वीकार नहीं करेंगे। लोग तो उसी रामायण को महर्षि वाल्मीकिकृत मानेंगे जो लगभग चौबीस हजार श्लोकों में वर्णित है। ग्रन्थकार को यह भी शका है कि जिस कोटि का महर्षि वाल्मीकि का काव्य है, यह काव्य उस कोटि का नहीं है। अत: वह आदि कवि के मुख से ही कहलवाता है कि उन्होंने उसी चौबीस सहस्र श्लोकों वाली रामायण को विशेष उत्साह से वर्णित किया था क्योंकि लोग इसे ही मान्यता प्रदान करेंगे। वैसे आनन्द रामायणकार तो उसे चौबीस सहस्र श्लोकात्मिका महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण को शोकरूप ही मानता है :-

---

1 —आ० रा०-मुख पृष्ठ—। 2 —आ० रा० की प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका। 3 —आ० रा० प्राक्कथन पृष्ठ 4

4 —द्र० आ० रा०—2/1/8-9, 21 2/1- 2; 5/4/57; 5/4/67; 5/4/76 ; 6/2/72; 6/9/25-26; 7/13/7
7/13/93; 7/22/87

5 —वाल्मीकर्मुनिपुंगव: आ० रा०—5/4/67 नाहं तत्स्तवने शक्तो वाल्मीकिर्वत्र कुण्ठित:।
शतकोटिमितै श्लोकै: चरितं राघवस्य च। मुनिना वर्णितं तच्च शतकोट्यंश वर्णितम्॥
आ० रा०-6/2/72—73

तत: सशिष्यो भगवान् मुनिर्विस्मयमाययौ। तस्य शिष्यास्तत: सर्वे जगु: श्लोकमिमं पुन:
वाल्मीकिना कृतं देवि शतकोटि प्रविस्तरम्।
आ० रा०-2/2/1

तथापि धन्योवाल्मीकिर्येन ते चरितं कृतम्।
आ० रा०-7/14/174

वाल्मीकिश्चापि धन्य: स भाविसम्वादभावयों :।
आ० रा०-7/21/87

न वाल्मीकोपम: कश्चित कविर्भूतो भविष्यति।
आ० रा०-7/21/89

ततोऽग्रे शोकरूप यत्त्वया दण्डके वने ।
चतुदर्श वत्सरैश्च कैकेयी दुष्टभावतः ॥
कृतं चरित्रं सीताया विरहादि च राघव ।
तत् किञ्चिच्छेषभूतं हि चतुर्विंसत्सहस्रकम् ॥
तावन्मात्र वदिष्यन्ति यद्वालमीकेः कृतं त्विति ।
तत्सर्व सकलं ज्ञात्वा भाविवृत्तं रघूत्तम ॥
शोकस्तदुपयोगश्च पूर्वमेव मयेरित : । ॥

## आनन्दरामायण का रचयिता रामदास नामक व्यक्ति

राम जन्म से लेकर रामराज्याभिषेक तक की सारी परम्परागत रामकथा आनन्दरामायण के सार काण्ड में संगृहीत है। इसके वक्ता तथा श्रोता शिव–पार्वती हैं । यात्रा काण्ड से कवि की अभीष्ट कथाओं का प्रारम्भ होना है। यहाँ से वक्ता श्रीरामदास तथा श्रोता श्री विष्णुदास हो जाते हैं। रामदास और विष्णुदास नाम रामायण या महाभारत कालीन प्राचीन नामों की परम्परा में नहीं आते। अतः प्रतीत होता है कि यद्यपि अपनी रामायण को प्राचीन सिद्ध करने एवं लोकमान्यता दिलाने के लिये कवि प्रत्यक्षतः उसे अपने नाम के साथ नहीं जोड़ता और इसे महर्षि वालमीकि कृत प्रदर्शित करता है तथापि अपनी कृति एवं उद्भावना का मोह संवरण न कर सकने के कारण स्वोद्भावित कथा के वक्ता के रूप में स्वयं अपना नाम प्रस्तुत करता है तथा श्रोता के रूप में अपने प्रिय शिष्य विष्णुदास का नाम उपस्थापित करता है।

ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए कर्तृत्व की लोकेषणा का संवरण न कर सकने के कारण कवि स्पष्ट रूप से श्री राम दास द्वारा आनन्दरामायण कथित होने की बात लिख कर यह भी स्पष्ट कर देता है कि यह वालमीकि की कथा का सार लेकर रचित है । वह महर्षि वालमीकि को धन्यवाद देता है जिनकी कथा का सार उसने गाया है ।

अतएव आरंभिक उक्तियों के आधार पर यह मानना कि आनन्दरामायण महर्षि वालमीकि कृत है कदापि संगत नहीं है। कदाचित् ही कोई भद्रपुरुष होगा जो स्वयं अपना नाम लेकर अपने को धन्यवाद दे तथा स्वयं को कवीश्वर कहे :–

आनन्द रामायणमेतदुत्तमं ये रामदायस्य मुखेन कीर्तितम् ।
श्रीराघवेणैव जनाधनाशनं नानाचरित्रैर्वर कौतुकैर्युतम् ।
धन्यः स वालमीकि मुनिः कवीश्वरो रामायणं वै सतकोटि सम्मितम् ।
कृतं पुरा येन सविस्तरं शुभं यस्माच्च सारं कथितं मया तव [1] ।

ग्रन्थकार द्वारा प्रयुक्त "मयेरितम् [2] ..,...कथितं मया तव[3]..., "मयोदितां [4] ", रामदासः स्वशिष्यायानन्दरामायणं प्रिये । एवमुक्त्वा [5]..."

इत्यादि वाक्यांश इस तथ्य का संकेत करते हैं कि ग्रंथकार रामदास जी हैं ।

आनन्दरामायणकार ने रामदास को वक्ता तथा विष्णुदास को श्रोता तो बना दिया और साथ ही महर्षि वालमीकि को ग्रन्थकार बताते हुए उसने हमारे सामने एक समस्या खडी कर दी लेकिन उसे यह बात स्वयं खटकती है कि इस अनैतिहासिक तथ्य को बुद्धि ग्राह्य बनाना आसान नहीं है । एक स्वाभाविक प्रश्न उठेगा कि रामायण काल में रामदास और विष्णुदास की उपस्थिति कहाँ से हो गई ? ऐसे नाम तो प्राचीन ऋषि परम्परा में नहीं मिलते ? इस का समाधान चतुर ग्रन्थकार ढूंढ निकालता है तथा भगवती पार्वती से इस प्रश्न को उठवाकर भगवान् शंकर द्वारा उसका समाधान प्रस्तुत करवाता है :–

"यदावालमीकिना देव कृतं रामायण वरम् ।
तदा क्व रामदासः स संवादोऽस्मिंत्वयाऽकथि ॥
क्व तदा विष्णुदासोऽपि संशयो मेऽत्र जायते ।
श्री शिव उवाच—

1 –आ० र०–7/13/97–100 2 –द्रष्टव्य आ० रा०–2/3 3 –आ० रा०–2/3

1 –आ० रा०–9/9/63 2 –वही 9/9/60 3 –वही 9/9/63 4 –वही 9/9/69
5 –वही 9/9/71 6 –वही 9/9/74–78

त्रिकालया ज्ञान दृष्ट्या मुनिनाऽत्र कथांतरे ।।
उभयोर्भावि सवाद: सोऽपि प्रवर्णित : ।
यथा रामस्यचरितं रामात्पूर्वं प्रवर्णितम् ।।
संदेहोऽत्र त्वया नैव कार्य: पर्वतकन्यके ।
रामदासमुखेनैतद्राघवेरणैव वर्णितम् ।।
आनन्दरामायरणभादरेण श्री रामचन्द्रेण मुनेर्मुखेन ।
तंद्रामदासस्य मुदैव चोक्तं भक्ति प्रदं मुक्तिदमेतदत्र ।।

यहां यह भी विचारणीय है कि यदि आनन्दरामायण महर्षि वाल्मीकि कृत है तो रामायरण लिखते समय ही वह सुदूर भूत की बात कैसे हो गयी और रचनाकार को इसे "सोषि पूर्व" प्रवषित : कहना पड़ा ।

दूसरी बात यह कि जैसे पूर्वकाल में रामकथा राम से पूर्व ही त्रिकालज्ञ महर्षि वाल्मीकि ने लिख दी थी वैसे ही रामदास और विष्णुदास का संवाद भी वर्णित कर दिया [2] । इस से स्पष्ट ही है कि महर्षि वाल्मीकि कृत रामचरित्र से यह रामचरित भिन्न है ।

प्रश्न यह भी उठता है कि यदि महर्षि वाल्मीकि आर्ष काव्य लिखते समय यह नहीं जान सके कि आनन्द रामायरण की कथा उनकी ऋतम्भराप्रज्ञा की पकड़ में नहीं आसकी है तो फिर वे भविष्यत के गर्त में किस कथा का अनुसन्धान कर रहे थे जिससे श्री रामदास जी और श्री विष्णुदास जी का संवाद उनकी पकड़ में आगया और उन्हो ने उस कविताबद्ध कर दिया ।

तीसरी बात यह है कि यदि आनन्द रामायण की पकड़ आदि कवि के सामर्थ्य के बाहर की बात थी क्योंकि सम्पूर्णरामचरित को अपनी प्रज्ञा चक्षुओं से देखते समय आनन्द रामायण की कथा महर्षि से अनभिज्ञ रह गयी । जिससे श्री रामदास जी के मुख से स्वयं 'राघव' को ही इस कथा का वर्णन करना पड़ा [3] । साथ ही एक कुतर्क यह भी मन में उठता है कि शतकोटि श्लोकों में राम का विशद यश वर्णन करने [4] वाले समसामयिक महर्षि वाल्मीकि पर राम की इतनी भी कृपा नहीं हुई कि वे उनके (महर्षि के) मुख ही से वह रहस्य-कथा कहलवा देते अथवा आदि कवि और श्रीरामदास जी के कालान्तराल के मध्य श्री रामदास से अच्छा या उन्हीं की कोटि का कोई भी ऐसा भक्त नहीं हुआ जिसपर कृपा कर राम उसके मुख से अपनी कथा कहलवाते ? सुदूर भविष्य में केवल श्री राम दास नामक कृपापात्र मिला जिसके मुख से उन्हों ने स्वयं अपना रहस्य–पूर्ण चरित्र वर्णन किया ? एक फितूर यह भी उठता है कि महर्षि वाल्मीकि की वह ऋताम्भराप्रज्ञा जो समसामयिक राम के चरित्र को जान लेने में असफल रही वह युगों बाद श्री रामदास के गोप्य सम्वाद को ज्ञात करने में कैसे सफल हो गयी ? क्योंकि श्रीरामदास जी तथा श्री विष्णुदास जी का वार्तालाप तो एकान्त मे केवल यों ? उन्हीं दो व्यक्तियों के बीच हुआ था [5] । उसके विपरीत आनन्दरामायरण की अधिकांश घटनाएं समष्टिगत हैं ; जैसे राम की यात्रा [6], यज्ञ [7], राजकुमारों का विवाह [8] सीतानिर्वासन तथा लवकुशयुद्ध [9] आदि । अस्तु

---

1 –आ० रा०–9/9/76
2 –वही 9/9/76
3 –वही 9/9/77
4 –वही 2/2/8
5 –वही 2/3/7–14 ; 9/9/60 ; 9/9/69–78
6 –वही 2 (यात्राकाण्ड)
7 –वही याग काण्ड
8 –वही विवाह काण्ड
9 –वही 5/3/73 तथा 5/6-7

सुदूर भविष्य का श्रीराम दास और श्री विष्णुदास का उभयनिष्ठ वार्तालाप आदि कवि को ज्ञात हो गया पर अपने ससामयिक राम के सामाजिक कार्यों को वे नहीं जान सके जिसे वे किसी सामान्य नागरिक से भी पूछ कर बिना योग दृष्टि का प्रयोग किये भी जान सकते थे, किस बुद्धि से विश्वसनीय मान लिया जाय ? यहां यही मानना पड़ेगा कि आनन्द रामायणकार अपने को गोपित कर सकने में सफल नहीं हो सका है ।

यदि यह स्वीकार लिया जाय कि बाद में आदि कवि की तप: शक्ति अधिक प्रखर हो गई होगी जिससे वे श्रीराम दास व श्री विष्णुदास की वार्ता को जान गए होंगे ; उस स्थिति में महर्षि ने अपनी पूर्व—रचित रामायण की घटनाओं का खंडन क्यों नहीं किया तथा नवीन उद्भावनाओं को ही एकमात्र मान्यता क्यों नहीं प्रदान की ? अथवा यदि कुछ ही संशोधन की आवश्यकता थी तो अपने पूर्व रचित आर्ष काव्य में ही संशोधन और परिवद्र्धन क्यों नहीं किया ? एक दूसरी 'आनन्दरामायण'' की रचना की आवश्यकता क्यों पड़ी ? अस्तु यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती कि आनन्दरामायण के रचयिता आदि कवि नहीं अपितु श्री रामदास जी हैं ।

## आनन्दरामायण का रचना—काल

कामिल बुल्के [1], श्री भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र 'माधव'[2] तथा डा० भगवती प्रसाद सिंह[3] आनन्द रामायण का रचना काल पन्द्रहवीं शती अनुमानित करते हैं । लेकिन यह 18वीं शती वि० के पूर्व की लिखी प्रतीत नहीं होती । इस के लिये निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

यह रचना गोस्वामी तुलसीदास से पूर्व लिखित नहीं जान पड़ती क्योंकि अपने से पूर्व रचित रामायणों के वक्ता—श्रोताओं का गोस्वामी जी ने सश्रद्ध स्मरण किया है । जैसे :— वाल्मीकि [4], व्यास [5], याज्ञवल्क्य [6], भरद्वाज[7], काक भुशुंडि [8], गरुड [9], लोमश [10], शिव [11], तथा पार्वती [12] इत्यादि । वाल्मीकि तथा व्यास की रचनाओं से स्पृहणीय वस्तुओं और विचारों को संगृहीत कर गोस्वामी जी ने अपने रामचरित मानस में प्रतिस्थापित किया है । लेकिन आनन्द रामायण की कथा से मानस की कथा मेल नहीं खाती बल्कि इसमें कुछ तथ्य विपरीत दिये हुए हैं ।

ज्ञात होता है कि आनन्द रामायण की रचना उस समय हुई थी जब रामचरितमानस की कथा का जनता में सम्यक प्रसार हो चुका था क्योंकि आनन्द रामायणकार राम के जीवन से सम्बन्धित मुख्य कथा के वर्णन में अपनी अभिरुचि नहीं दिखाता । उसे एक ही 'सारकाण्ड' में संक्षिप्त रूप में समाप्त कर देता है । उस 'सारकाण्ड' में भी वह उन्ही कथाओं के वर्णन में रमता हुआ दिखाई पड़ता है जिसे तुलसी ने छोड़ दिया ; जैसे—रघुवश वर्णन [13], कौशल्या की कथा [14], दशरथ का विवाह [15], सुमित्रा एव कैकेयी का विवाह [16], कैकेयी द्वारा युद्ध में दशरथ की सहायता तथा प्रसन्न दशरथ द्वारा कैकेयी को वरदान [17], श्रवण कुमार की कथा [18], दीपावली के अवसर पर राम का ससुराल जाना और लौटते समय धनुष यज्ञ में असन्तुष्ट राजाओं का आक्रमण और युद्ध; इस युद्ध में भरत की

---

1 —राम कथा, पृष्ठ—168
2 —राम भक्तिसाहित्य में मधुर उपासना पृष्ठ—164
3 —रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृष्ठ—96
4 —मा० 1/श्लोक 4 तथा भा०—1/14
5 —मा०—1/13/2
6 —मा०—1/19/1
7 — मा० —1/19/1
8 —मा०—1/19/4
9 —मा०—7/62/1
10—मा०—7/110 तथा 7/112/9
11—मा०—1/29/3
12—मा०—1/29/3

मूर्च्छा एवं लक्ष्मण का मुद्गल ऋषि के आश्रम से संजीवनी लाकर उन्हे स्वस्थ करना [19], वृन्दा की कथा [20], राम की दिनचर्या [21], हनुमान् का एक मुनि द्वारा गर्वापहरण [22], राम का हनुमान को शिवलिंग लाने काशी भेजना [23], राम द्वारा हनुमान् का गर्वापहरण [24], सुलोचना का सती होना [25], तथा ऐरावण एवं मैरावण द्वारा रामलक्ष्मण के हरण की कथा [26] इत्यादि।

आनन्दरामायणकार रामचरित मानस से प्रभावित जान पड़ता है। तुलसी-पूर्व संस्कृत रामायणों में कहीं भी जनकपुर में धनुषयज्ञ का वर्णन नहीं है। पर आनन्द रामायण में धनुष यज्ञ समारोह वर्णित है; जिस में विदेश के सारे राजे महाराजे एकत्रित हुए हैं [27]।

उपलब्ध प्राचीन संस्कृतरामायणों में कालनेमि वृत्तान्त तथा भरत का हनुमान को बाण मारने की कथा का उल्लेख नहीं है पर, आनन्दरामायण में कालनेमि की [28] एवं संजीवनी लाते समय हनुमान् पर भरत के बाण-प्रहार की कथाएं हैं [29]। इससे स्पष्ट है कि आनन्दरामायणकार ने ये कथाएं मानस से ली हैं।

आनन्दरामायणकार ने संस्कृत भाषा में रामकाव्य लिखने वालों की फलश्रुति के साथ स्वभाषा में रामकाव्य लिखने वालों के लिये कवीश्वर विशेषण का प्रयोग किया है[30]। तुलसी से पूर्व हिन्दी में कोई ऐसा रामचरित लेखक नहीं हुआ था जिसे कवीश्वर की उपाधि से विभूषित किया जा सके प्राकृत तथा अपभ्रंशादि भाषाओं में अवश्य ऐसे कवि हुए थे; पर उन भाषाओं में जैन तथा बौद्ध राम काव्य ही थे। आनन्द रामायणकार अपनी रचना में स्पष्टतः स्मार्त वैष्णव है। अस्तु वह परम्परागत राम कथा में उलट-फेर सहन नहीं कर सकता। स्वकल्पित राम कथा लिखने वालों की वह निन्दा करता है :-

य: करोति स्वयं काव्यं कल्पयित्वा स्वयं कथाम्।
तच्छ्रमो व्यर्थतामेति तदध्येता च दोषभाक् [2]॥

अत: कहा जा सकता है कि स्वभाषा में काव्य रचने वाले को कवीश्वर शब्द से विशेषित कर आनन्द रामायणकार ने गोस्वामी जी की ओर ही संकेत किया है।

आनन्दरामायणकार रामभक्त तथा कृष्णभक्त के ब्राह्मणों में राम और कृष्ण की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में शास्त्रार्थ कराकर रामभक्त को विजयी बनाता है एवं राम की श्रेष्ठता प्रतिपादित करता है। इससे भी इस तथ्य का प्रकटीकरण होता है कि यह रामायण उस समय लिखी गयी होगी जब राम भक्ति का प्रचार-प्रसार अपने उत्कर्ष पर होगा और कृष्णभक्तों के लिये ईर्ष्या का विषय बन चुका होगा। वह स्थिति राम भक्ति शाखा में गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस के प्रचार-प्रसार के बाद ही हो सकती है।

---

13 —आ०—रा०—1/1
14 —वही —1/1
15 —वही —1/1
16 —वही —1/1
17 —वही —1/1/78-85
18 —वही —1/1/86-95
19 —वही —1/4/47-56
20 —वही —1/4/81-110
21 —वही —1/5/67-100
22 —वही —1/9/285-298
23 —वही —1/10/72-73
24 —वही —1/10/136-139
25 —वही —1/11/205-217
24 —वही —1/11/76-130
15 —आ० रा०—1/3/54—135
16 —वही —1/11/4—60
17 —वही —1/11/62-68

आनन्दरामायणकार के अनुसार विवाह के समय राम की आयु छः वर्ष से भी कम थी। विवाह के बाद जनकपुर से पहुनाई करके जाते समय राम की आयु 6 वर्ष बताई गई है [32]। इससे ज्ञात होता है कि आनन्दरामायणकार उस युग में पैदा हुआ था जब बाल विवाह जोरों पर होगा। बाल विवाह की प्रथा भारत को मुगल काल की देन है [33]। गोस्वामी जी के समय तक यह प्रथा अभी उतनी व्यापक नहीं हुई थी क्योंकि गोस्वामी के राम विवाह के समय किशोरावस्था में हैं[34]। किशोरावस्था भी वह जो यौवन की देहली पर पांव रख चुकी हो[35]। इससे स्पष्ट है कि आनन्द रामायणकार उस समय में वर्तमान था जब मुगलसाम्राज्य अपनी विलासावस्था की पराकाष्ठा को प्राप्त कर चुका था तथा हिन्दू घरों में जवान लड़कियों का रखना जान बूझ कर संकट मोल लेना था। मुगल साम्राज्य में वह समय जहांगीर के शासन कालसे प्रारम्भ होता है तथा चरम परिणति शाहजहाँ के समय में प्राप्त करता है[36]।

अतः आनन्दरामायणकार को शाहजहां का समकालीन या उसका परवर्ती होना चाहिए।

मर्यादाप्रधान रामचरित में भी आनन्दरामायणकार ने ऐसा एक भी उत्सव, प्रयाण या समारोह नहीं छोड़ा है जब उसने वेश्याओं का नृत्य न कराया हो[37]। जहाँ तुलसी के रामपर देवगण या (प्रमुदितपुरनरनारि) फूल बरसाते हैं; वहां आनन्द रामायण के राम के मंत्रीगण वेश्याओं पर विविध गन्ध-द्रव्य तथा गुलालादि की वर्षा करते हैं। उनका साथ कभी कभी राजा राम भी दे देते हैं, तथा सुगन्धित रंगों से पूर्ण पिचकारियों से कमनीय कलेवरा वारांगनाओं के वस्त्रों को लालिमामय बना देते हैं जैसे पलास मधुमास में लाल हो जाता है। गुलाल से गीले कपड़ों में नाचती हुई उन वारवनिताओं की यष्टि पर वे पुनः परिमलादि फैंक कर चित्र रचना कर देते हैं [38], राम की राजसभा में वेश्याओं का नृत्य होता है[39]। महर्षि बालमीकि के आश्रम में जनक द्वारा सीता को ले जाते समय उस आश्रम, तपोभूमि या वन-प्रदेश में भी वेश्याए नाचती है[40]। प्रियतम श्रीराम के युद्ध के लिये चले जाने पर मन बहलाने के लिये सीता कभी कभी वेश्याओं का नृत्य देखती हैं[41]। वेश्याओं का इस प्रचुरता से उल्लेख यह स्पष्टतः सिद्ध करता है कि ग्रन्थकार उस समय का होगा जब समाज में वेश्यावृत्ति की

---

30 —आ० रा० —8/8/87

31 — वही —8/8/77

32 — वही —1/4/26

33—भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास-पृष्ठ-513, मुगल कालीन भारत का सांस्कृतिक एवं राजनैतिक इतिहास पृष्ठ-942-43

34 —बय किसोर सुषमा सदन स्याम गोर सुखधाम। मानस 1/220
श्यामल गौर किसोर मनोहरता निधि-जानकी मंगल छ० 34
सांवरो किसोर गोरी शोभा पर त्रिन तोरि-कवितावली—1/14
नीलपीत पाथोज बरनबपु बय किसोर बनि आई। गीतावली—1/50/2
स्याम गौर सुन्दर किसोर तनु तून बान धनुधारी। वही—1/61/1
बय किसोर सब भाँति सुहाए। मानस—1/228/1
स्यामल गौर किसोर सुहाए। मानस—1/231/3
राजत राजसमाज महं कोसल राज किसोर मानस।—1/242

अत्यधिक वृद्धि रही होगी। भारतीय इतिहास में वह काल शाहजहां का शासन काल है जो अपनी विलासिता के लिये प्रसिद्ध था [42]।

आनन्दरामायण में ग्रन्थ के वक्ता (मेरी समझ से ग्रन्थकार) का परिचय मात्र इतना प्राप्त होता है कि वे नृसिंह के पुत्र हैं तथा उनके शिष्य श्री विष्णुदास हैं। नृसिंह का निवास स्थान दण्डकारण्य में गोदावरी का वन्य प्रदेश अब्जक क्षेत्र था। रामदास तीर्थाटन के बाद गोदावरी के तटवर्ती गांव में छात्रों को अनेक शास्त्र पढ़ाते थे [43]।

भक्तमाल में छः राम दास नामक भक्तों का उल्लेख है [44]। लेकिन आनन्दरामायणकार रामदास उनमें से एक भी नहीं हैं। क्योंकि भक्तमाल में प्रदत्त उनके संक्षिप्त परिचय तथा आनन्द रामायण में उल्लिखित परिचय में कोई तालमेल नहीं बैठता। भक्तमाल का रचनाकाल संवत् 1680 वि० के लगभग माना जाता है [45]। उस समय तक यदि रामदास विख्यात हो चुके होते तो उनका भी परिचय उसमें अवश्य होता। क्योंकि आनन्द रामायण जैसे वृहदाकार ग्रन्थ के रचयिता भक्त को श्री नाभा जी छोड़ नहीं सकते थे। अतः यह मान लेना समीचीन जान पड़ता है कि भक्तमाल के रचना—काल तक आनन्द रामायणकार रामदास तथा आनन्द रामायण प्रकाश में नहीं आए थे।

श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' ने अपनी पुस्तक "राम भक्ति साहित्य में मधुर उपासना" के पृष्ठ 131–132 पर श्री मथुरादास जी कृत "कल्याण कल्पद्रुम" नामक ग्रन्थ से एक श्लोक–बद्ध रसिक सम्प्रदाय की गुरु परम्पारा उद्धृत की है; जिसमें श्री रामनन्द जी के पश्चात् आठवीं पीढ़ी में श्री नृसिंह दास आते हैं। श्री नृसिंहदास के अनन्तर रामदास तथा रामदास के पश्चात् हरिदास का नाम आया है। यह परम्परा तारक मन्त्र प्रदान करने के सम्बन्ध में हैं। इस सूची के नामों तथा आनन्द-रामायण में दिये हुए रामदास के परिचय में प्रदत्त सूची के नामों [46] में समता है अन्तर केवल रामदास के

---

35 —ठाढ़ भए उठि सहज सुगाए ठवनियुवा मृगराज लजाए। मानस—1/253/8
कुल शील बय बंस राम परिपूरन। जानकी मंगल, छन्द 48

36 —मुगल कालीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इ० पृष्ठ—742 तथा 809
(अ) भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास पृष्ठ—513
(ब) हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग—6, पृष्ठ –13

37 —आ० रा०—1/3/43; 1/3/302; 1/3/308; 3/8/9; 3/8/23
5/2/28; 5/3/80; 6/1/41; 6/2/21–23; 6/4/30;
6/9/5; 7/21/66 व 80 आदि

38 —आ० रा०—3/9/72–76

39 —आ० रा०—3/7/37–38

40 —आ० रा०—5/4/79–81

41 —आ० रा०—7/5/3

42 द्रष्टव्य मुगल कालीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ 842
हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास—भाग—6, पृष्ठ 13

43 —आ० रा०—2/3/2–6

44 —भक्त माल, पृष्ठ—450;, 915; 871; 630; 915

शिष्य विष्णुदास के नाम में आता है। श्री मथुरा दास जी की तालिका में हरिदास नाम है आनन्दरामायणकार की सूची में विष्णोदास नाम आया है। हरि और विष्णु परस्पर पर्यायवाची शब्द हैं। अत: यदि विष्णुदास को पादपूर्त्यर्थ श्री मथुरादास जी द्वारा हरिदास किया हुआ मानलें तो श्री राम दास जी के काल-निर्णय में आसानी हो जाएगी। ऐसा कवि परम्परा में होता भी आया है। आदि कवि महर्षि वाल्मीकि ने भी अपने काव्य में 'राम'[47], काकुत्स्थ[48] तथा राघव[49] शब्दों को राम के लिये प्रयुक्त किया है। महाकवि कालिदास ने 'सर्वदमन'[50], दौष्यन्ति[51] और भरत[52] का प्रयोग एक ही व्यक्ति 'भरत के नाम के लिए किया। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी 'उमेश'[53] 'शिव'[54] 'शर्व'[55] 'शंकर'[56] तथा 'महेश'[57] इत्यादि नामों को भगवान् शिव के लिये व्यवहृत किया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने श्रीरामानन्द जी का काल पन्द्रहवीं शती का चतुर्थ तथा सोलहवीं शती के तृतीय चरण का अन्त (1475-1575 वि०) माना है[58]।

अब यदि प्रत्येक पीढ़ी के लिये कुल 30 वर्ष भी दिये जायें तो स्वामी रामानन्द जी की नवीं पीढी में पड़ने के कारण आचार्य शुक्ल द्वारा निर्धारित समय के अनुसार (1575+240=1815) श्रीराम दास का समय 19 वीं शती के प्रारंभ के लगभग पड़ता है। डा० श्रीवास्तव के मत को आधार मानने पर (1467 वि०+240=1707 वि०) इनका समय 18 वीं शती वि० के प्रारम्भ में पड़ता है। यदि दोनों विद्वानों के कालमानों का औसत निकाल लें तो श्री रामदास का समय 18 वीं शती का मध्य पड़ता है। यदि डा० श्रीवास्तव के मत को ही प्रामाणिक मान लें तो भी श्री रामदास जी का समय 18 वीं शती वि० का पूर्वार्द्ध होता है। अस्तु कहा जा सकता है कि आनन्द रामायण विक्रम की 18 वीं शती पूर्व की रचना नहीं हो सकती।

---

45 —अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पूर्वार्द्ध ले० डा० दीनदयाल गुप्ता, पृष्ठ—109
46 आ० रा०—2/3/2-6
47 —वाल्मीकिरामायण 2/5/1
48 —वही —2/5/2
49 —वही —2/6/9
50 अभिज्ञानशकुन्तल—7/33
51 —वही —4/20
52 अभिज्ञानशाकुन्तल—7/33
53 —सो उमेस मोपर अनुकूला। मानस—1/15/7
54 —सोइ सिव काग भुसुंडिहि दीन्हा।—मानस— 1/30/4
55 —शर्व: सर्वगत: शिव: शशिनिभ: श्रीशंकर: पारतु नाम्। मानस अयोध्याकाण्ड श्लोक—1
56 — वही
57 —महा मन्त्र जोइ जपत महेसू। मानस—1/19/3
58 —हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ—115

# श्री गुरु नानकदेव का मुक्ति का अनुबोध

डॉ० धर्मपाल सिंहल

भारतीय दार्शनिकों ने मनुष्य जीवन की स्थिति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में मानी है। जीव इस संसार में धर्म के आधार पर अर्थ का अर्जन तथा काम द्वारा संतति संग्रह करता हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है। अर्थात्, मोक्ष एक ऐसी स्थिति है जिसे जीव का महत्त्वपूर्ण चरम लक्ष्य माना गया है। यद्यपि अर्थ और काम की स्थिति को स्वीकार किया गया है तो भी इनमें लिप्त न होने वाले पुरुष को ही 'स्थित-प्रज्ञ' कहा गया है। गीताकार ने कहा है (अध्याय ३/७०-१) 'जैसे सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र के प्रति नाना नदियों के जल, उसको जलायमान न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही जिस स्थिर बुद्धि पुरुष के प्रति सम्पूर्ण भोग किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वह पुरुष 'परम-शान्ति' को प्राप्त होता है' न कि भोगों को चाहने वाला। क्योंकि जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर ममतारहित और अहंकार-रहित, स्पृहा रहित हुआ बर्तता है, वह शांति को प्राप्त होता है। यह ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की स्थिति है, इसको प्राप्त होकर वह मोहित नहीं होता है। और अन्तकाल में भी इस निष्ठा में स्थित होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाता है।' यह ब्रह्मानन्द की प्राप्ति ही मुक्ति है, जिसे साधारण शब्दों में संसार से छुटकारा समझा जाता है। यह संसार से पलायन नहीं अपितु संसार में रहते हुए निर्लिप्त भाव से, आत्म-साक्षात्कार द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करना है।

इसी मोक्ष या परमानन्द की प्राप्ति को महात्मा बुद्ध ने 'निर्वाण' की संज्ञा दी है, सुख-दु.ख दोनों में ही समत्व भाव रखने वाला प्राणी निर्वाण को प्राप्त होता है और इसी दार्शनिक सत्य को हमारे मध्ययुगीन सन्तों ने अपने काव्य में प्रस्तुत किया। श्री गुरु नानक के विषय में भी यह बात स्पष्टतया समझ लेनी चाहिये कि वे अपना कोई मत-विशेष या पंथ-विशेष स्थापित करने हेतु अवतरित नहीं हुए थे, अपितु उनकी वाणी का मूलोद्देश्य धर्म की पुनर्व्याख्या करना था। दर्शन के जटिल प्रश्न जो ब्राह्मण वर्ग में ही सीमित होकर रह गये थे, जनता में उन्हीं को 'भाखा' के रूप में श्री गुरु नानकदेव तथा अन्य मध्ययुगीन सन्तों ने अपनी वाणी में मुखरित किया है।

जिस समय श्री गुरु नानक का प्रादुर्भाव हुआ तब शास्त्र-सम्मत ज्ञान, कर्म तथा मुक्ति के मनमाने अर्थ लगाकर उनके केवल बाहरी कर्म-काण्ड पर ही विशेष बल दिया जा रहा था, इनके मूल में निहित सत्य विचार को भुलाकर कुछ स्वार्थी जब अपनी उदरपूर्ति हेतु अपढ़ जन-मानस को महामूढ़ता के उदधि में डुबो रहे थे, वेदादि की बातें अधिक हो रही थीं, उन पर कर्म नहीं हो रहा था, कथनी और करनी में आकाश-पाताल का अन्तर आ गया था; श्री गुरु नानक ने धर्म की इस स्थिति को देखा तो 'सरमु धरमु दोए छपि खलोए कूड़ि फिरै प्रधान वे लालो' कह कर चीत्कार कर उठे। भारतीय समाज के मुट्ठी भर पढ़े-लिखे लोग आम जनता को स्वर्ग-नरक की मिथ्या उलझनों में फंसाए हुए थे, तभी तो नानक को कहना पड़ा...

'गली' भिसति न जाइऐ, छुटै सचु कमाई
मारण पाहि हराम महि होय हलालु न जाई।

(वार माझ)

(केवल बातें बनाने से बहिश्त या स्वर्ग में कोई नहीं जा सकता, मुक्ति केवल सत्य की कमाई करने से ही

हो सकती है। हराम या झूठ-फरेब से प्राप्त की हुई कोई भी वस्तु हलालु या सत्य नहीं हो सकती। )

श्री गुरु नानक देव जी ने इस 'मुक्ति' के लिये अपनी वाणी में अनेक पर्यायवाची शब्द दिये हैं यथा, निरबाणु, छूटै, मोख दुआर, बंद खलासी, परमगति, बाणी परमानन्द, अनहद शबद की प्राप्ति, जिअ इच्छिडा फलु पाइआ, सच्ची दरगहि, महलु, नामि आमावणिआ' आदि। स्पष्ट है कि नानक जी जीवन-मरण के चक्र से छूटने को विषयासक्ति का त्याग कर एकीभाव से परब्रह्म की शरण में जाने को, नाम, शब्द, नाद द्वारा उसमें दत्तचित होने को मुक्ति मानते हैं। अतः उनका मुक्ति का संकल्प संसार से पलायन करना अथवा कर्तव्य से विमुख होना नहीं, अपितु समत्व-बुद्धि द्वारा, संसार में रहते हुए भी, जल से कमल के पत्ते के सदृश्य पाप-कर्म में लिप्त न होना है। गुरु जी ने वैसे तो अपनी वाणी में सर्वत्र इस 'मुक्ति' के बोध को स्पष्ट किया है, परन्तु उनकी अमरकृति 'जपुजी' में तो इसकी बहुत ही सुन्दर व्याख्या मिलती है। गुरु जी मनन पर बल देते हुए बतलाते हैं कि केवल शुद्ध मन से प्रभु का मनन करने वाले भक्त-जन ही मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं। मनन करने से (मन्ने जम के साथि न जाइ) यमराज के बंधन से जीव बच सकता है, मनन द्वारा हो मोक्ष प्राप्त कर सकता है। (मन्नै पावै मोखु दुआर) तथापि मनन करने वाला महापुरुष स्वयं भी तर जाता है और साथ ही अपने शिष्य का भी उद्धार करता है (मन्ने तारे तरै गुर सिख)।

गुरु जी इस बात को भी नितान्त स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हैं कि कोई भी मनुष्य अपने सीने के जोर पर संसार से मुक्त नहीं हो सकता, बल्कि अभिमानी एवं अहंकारी पुरुष तो इस मार्ग का अनुगामी हो ही नहीं सकता। जिस भाग्यशाली पुरुष पर, उसके विगत कर्मों के फल हेतु भगवान् स्वयं प्रसन्न होते हैं, उसे ही वे अपनी भक्ति का दान देते हैं, भगवान् की इच्छा के बिना जीव बन्धन-मुक्त नहीं हो सकता। वे कहते हैं......'जोर न जुगती छूटै संसार' अगर कोई छूट सकता है तो केवल भगवद्-अनुकम्पा द्वारा ही......

बन्द खलासी भाणै होए, होरु आखि न सकै कोए।

भगवद्-अनुकम्पा के साथ ही उन्होने प्रभु का 'नाम-स्मरण' भी परमावश्यक माना है। आवश्यक ही नहीं, यही एकमात्र मार्ग है। नाम का जप करने वाले न केवल स्वयं ही पार उतर जाते हैं अपितु कितने दूसरे ही संसारियों को भी जीवन मुक्त कर जाते हैं.....

जिनी नामु धिआइआ गए मुसकती घालि।
नानक ते मुख उजले केती छुटि नालि।।

इसी बात की पुष्टि वे 'रागु सिरी रागु, घर १' में भी करते हैं:—

अंधले नाम विसारिआ मनमुखि अंधु गुबारू।
आवण जाणु न चुकई मरि जनमे होय खुआरु ।।३।।

आध्यात्मिक ज्ञान से विहीन इस नर ने प्रभु का नाम विस्तृत कर दिया है और सद्गुरु की शरण न लेकर वह मनमुख बना हुआ है, अतः उसे चारों ओर अंधेरा और गुबार ही नजर आ रहा है। फलतः उसका जन्म-मरण का क्रम समाप्त होने में ही नहीं आता, वह मूर्ख नर बार बार मृत्यु और जन्म के फंदों में पड़कर खुआर हो रहा है। इस संसार में सच्ची 'कार' करने से ही उस सत्य के दर्शन हो सकते हैं, परन्तु सत्कार्य ही काम नहीं आयेंगे, सद्मार्ग पर अग्रसर होने के लिये गुरु के बताए मार्ग पर चलना परमावश्यक है, तभी कुछ लाभ प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार का सद्व्यवहार करने वाला पुरुष ही आवागमन के चक्र-व्यूह से मुक्ति पा सकता है। उस प्रभु का द्वार ही सच्चा द्वार है, उसी के दर पर पहुँचना मनुष्य-मात्र का एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए। यह संसार एक ऐसा मोह-माया का जाल है कि इसी में लिप्त रहने वाले प्राणी का शरीर जलकर मिट्टी में मिट्टी हुआ रहता है और मन सदैव मोह के

अन्धकार में ग्रस्त इधर-उधर भटकता रहता है। मोह के कारण ही अनेक प्रकार के अवगुण इसको चारों दिशाओं से आ घेरते हैं। 'शब्द' की महिमा जाने बिना वह भ्रम जाल में फंसा रहता है और न इधर का रहता है और न उधर का। नानक जी कहते हैं कि 'शब्द' एक ऐसा आधार है, जिससे मनुष्य का उद्धार हो सकता है। जो गुरमुखि 'नाम', 'शब्द', 'नाद' या बिन्दु का मर्म नहीं जानते निरन्तर दुखों के भागी होकर तड़पते रहते हैं।

नाम के साथ ही गुरु की मेहर, कृपा या अनुकम्पा को भी अनिवार्य माना गया है— गुरु बिना किऊं तरीऐ सुख होयें गुरु से 'नाम प्राप्त' करके ही मनुष्य कर्म के बन्धनों से छुटकारा पा सकता है। इस जीवात्मा को भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि हरि का नाम जपने के बिना छुटकारा नहीं। गुरु की प्राप्ति भी तभी होती है जब यह भाग्य में बदा हो इसके लिये अन्तर की खोज भी करनी जरूरी है।

हरि जपि जीअरे छूटीऐ गुरमुखि चीनै आपु

———

सतिगुरि मेल मिलाइआ नानक सो प्रभु नालि।

सतिगुरु की कृपा से ही उस परब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है, नैकिट्य या सान्निध्य मिल सकता है। जिसके साथ वह प्रभु सदा निवसता है उसे फिर दुख–सुख की चिन्ता या जन्म–मरण का संताप कैसे व्यथित कर सकता है? अतः मन के सब प्रकार के संशय मिटाकर गुरु से मिलना चाहिये, जिससे वह अन्तर को गति जान सके। गुरु कृपा से सहज–अवस्था को प्राप्त हुआ नर-श्रेष्ठ जीवित ही प्रभु चरणारविंद का भ्रमर बन सकता है। जीवित रहते प्रायः अहं पीछा नहीं छोड़ता, परन्तु जब अन्तर की लौ जगाने से घट–मन्दिर में प्रकाश हो जाता है तो मोह, अहं और लोभ आदि का तिमिर तिरोहित हो जाता है।

गुरु नानकदेव जी का मुक्ति का अनुबोध उस सनातन शक्ति के साथ एकसुर होना, एक रस होना, अभेद होना है। अनहद व धुन के जागने से ज्योति ज्योति में विलीन हो जाती है और सुरति की रति सुरति से हो जाती है। तब हिंसा की भावना, हउमैं (अहं) विनष्ट हो जाता है और मन में न कोई संशय रहता है और न कोई रोग–संताप। संसार का त्रास दूर होकर मानव भवसागर के पार उतर जाता है और यमराज के दूत पास तक नहीं फटक सकते ..जम जदारु न लगई इऊ भऊजल तरै तरासि ॥२॥ (श्री रागु म० १)

इसी बात को श्री गुरु नानक देव ने एक अन्य रुपक द्वारा भी स्पष्ट किया है। यह रुपक है कृषि का। हमारा यह तन धरती है, इस में कर्मों का बीज डाल कर सारंगपाणि की कृपा के जल से इसे सींचना चाहिए। मन को कृषक बनाकर हृदय में हरि को रोपा जा सकता है, इस प्रकार से मानव निर्वाण प्राप्त कर सकता है...

इहु तनु धरती बीजु करमा करो
सलिल आपाऊ सारिंगपाणी।
मनु किरसाणु हरि रिदै जम्माए लै
इउ पावसि पदु निरबाणी ॥ १ ॥ (श्री रागु म० १)

यहां पर गुरु नानक मुल्ला को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि पांच समय नमाज पढ़कर, कुरआन जैसे धर्मग्रन्थ पढ़कर, भी तुमने यदि 'नाम' का सार नहीं पाया तो तू मरेगा ही, कोई तुम्हें बचा नहीं सकेगा। गुरु जी काजी की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि सच्चा काजी वही है जिसने अपने 'स्व' का त्याग करके 'नाम' को अपना आधार बना लिया है।

तेरा एकु नामु तारे संसारु।
मैं इहा आस एहो आधारु ॥ १ ॥

गुरु जी श्री रागु घर २ की अष्टपदियों में इस सिद्धान्त की व्याख्या और भी लौकिक उदाहरणों द्वारा

करते हैं। वह कहते है कि इस संसार सागर के गहरे खारे पानी में रहने वाली मछली जल में छिपे हुए जाल को जान नहीं पाती है। मछली के समान ही मनुष्य काल-जल के पाश में बंधा चल रहा है। जो मानव सर्व विकारों को छोड़कर एवं मन की द्विविधा को त्यागकर उस सच्चिदानन्द में अनुराग रखते हैं, वे ही उबरते हैं। ऐसे महापुरुषों के बलि-बलि जाना चाहिये।

सचि रते ऊबरे से दुबिधा छोडि विकार।
हउ तिन कै बलिहारणै दरि सचै सचिआर॥ २॥

मुक्ति की प्राप्ति के लिये सहज भाव अथवा सहजावस्था की भी परम अनिवार्यता सिद्ध है। जो व्यक्ति सुख-दु:ख को समभाव से जानता है, मीठा बोलता है, सच से लौ जोडता है, वहां काल का त्रास नहीं होता है क्योंकि कहा गया है... 'सहिजै ते सुख अगलो न लागै जम तीरु।' जो मनुष्य गुरू की शरण में नहीं जानता, वह आवागमन के नित्यक्रम से मुक्त नहीं हो सकता।

'नावहु भूली जे फिरा फिरि फिरि आवऊ जाऊ॥

केवल कथा-वार्ता सुनने-सुनाने से भी सच की सिद्धि नहीं होती, इस मरण शील संसार में संध्या-पूजा करने से, हवन-यज्ञ करने से, काशी में जाकर करवत से देह छेदन करने से उस प्रभु को नहीं पाया जा सकता है। इसके विपरीत सख्य भाव से, अहं को त्याग रक, विषय-विकार को छोड़कर सत्गुरु की प्राप्ति द्वारा ही मोक्ष-द्वार मिल सकता है—

सतिगुरु पूरा जे मिलै पाईऐ रतनु बीचारु॥
मनु दीजै गुरु आपणे पाइऐ सरब पिआर॥
मुकति पदारथु पाईऐ अवगण मेटण हार॥

गुरु नानक देव ने प्रभु का हुक्म, 'भाणा' मानने, और उसके श्रीचरणों में सब चित्तवृत्तियों को न्योछावर करने पर भी विशेष बल दिया है। साधना में एक ऐसी भी अवस्था आती है, जब प्रभु का भाणा (नियति) मीठा लगने लगता है, उस द्वारा दिये गये सुख-दु:ख में किंचित् भी भेद नहीं रहता रहता, उसमें रस या आनन्द का परिपाक होने लगता है। इस अवस्था को पाकर साधक के मन से सब प्रकार के भ्रम का, अज्ञान का परदा उठ जाता है 'जिन भाणे का रसु आइआ, तिन विचहु भरमु चुकाइआ'।

गुरु जी ने यह भी कहा है कि मुक्ति को पाने हेतु द्वैत का भाव समाप्त करना पड़ता है, यह ततु और वह ततु में कोई अन्तर नहीं रखा जा सकता। कबीर के 'जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी' की भावना को अंगीकार करते हुये गुरुदेव ने कहा है—

राम नाम बिना मुकति न होई
बूडी दूजै हेति॥

श्रीगुरु नानक देव ने अपनी सिरीरागु में लिखी लघु बाणी 'पहरै' में भी मुक्ति के सिद्धान्त की अत्यन्त सुन्दर व्याख्या की है। मनुष्य-जीवन, चार पहरों या अवस्थाओं में विभाजित किया गया है। यह जीव जीवन के प्रथम पहर में बाल-बुद्धि वाला बेसुध जीव होता है। वह दूध पीता है तथा सुत होकर माता-पिता दोनों का सुख प्राप्त करता है। मात-पिता भी मोह के सागर में डूबे रहते हैं। जीवन के दूसरे प्रहर में प्राणी नवयौवन के मद में मदमाता होकर दिन-रात काम-वासना में लिप्त रहता है और नाम नहीं जपता। वह राम नाम के रस की जगह अन्य रसों-स्वादों में अधिक डूबा रहता है। जीवन के तीसरे प्रहर में जीव रूपी हंस सरोवर के किनारे पर आ पड़ता है। यौवन ढल जाता है, वृद्धावस्था आने लगती है और दिन प्रति दिन आयु घटने लगती है। जब अन्तिम समय यमके दूत आ घेरते हैं तब वह पश्चाताप करता और सिर धुनता है। जीवन के चौथे चरण में जीव पूर्ण वृद्ध होकर क्षीण तन वाला हो जाता है। आंखों से दिखाई नहीं पड़ता और कानों से वह सुन नहीं सकता है। उसका जिह्वा-रस भी समाप्त हो जाता है। उसने अपने अन्तस में तो कोई गुण

संजोया नहीं होता ; तब ऐसा आवागमन का शिकार वह मनमुख कैसे प्राप्त कर सकता है । ऐ मूर्ख प्राणी, चौथे पहर भी यदि तू "शब्द" पहचानने का प्रयत्न करे तो तेरा बेड़ा पार उतर सकता है । यहाँ गुरु जी समझाते हैं कि भक्ति-भाव से ही मनुष्य पार उतर सकता है —

कालु जालु जमु जोहि न साकै भाय भगति भै तरणा ।
पति सेती जावै सहजि समावै सगले दूख मिटावै ।
कहु नानक प्राणी गुरमुखि छूटै साचे ते पति पावै ।५।।२।।

श्री गुरु नानक जी के मुक्ति के अनुबोध को समझने के लिए यहाँ यह बात विचारणीय है कि क्या यह संकल्प अन्य धर्मों से कुछ भिन्न है ? यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि वे भारतीय धर्म के ही पुनर्व्याख्याता थे, नाम-दान के मार्ग से मुक्ति-लाभ की बात सनातन विचारधारा है । हम डा० सुरेन्द्रसिंह कोहली के इस मत से सहमत नहीं हो सकते कि 'सिख-मत का मुक्ति का अनुबोध अन्य भारतीय धर्मों की अपेक्षा भिन्न है। सच्चा सिख स्वर्ग में प्रवेश पाने को उत्सुक नहीं होता । वह शास्त्रों में बताई गई 'मुक्ति' को भी छोड़ देता है । 'मुकति बपुडी गिआनी भी तिआगै ( मारू म० ५ ) वह अपार श्रद्धा और प्रेम में भरपूर रहकर सदा प्रभु-चरणों का भ्रमर बना रहना चाहता है । भक्त वाली असीम श्रद्धा उसे पागल बनाती है न कि सज्ञाशून्य, अपितु यह उसे शुभ कर्म करने और परम ज्ञान पाने की प्रेरणा देती है। "

यहां हम विनम्रता से कहना चाहेंगे कि स्वर्ग की प्राप्ति की इच्छा करना मुक्ति पाना नहीं हैं । विद्वान आलोचक इन बातों को एक स्थान पर इकट्ठा करने का प्रयत्न कर रहे हैं । 'स्वर्ग की प्राप्ति' तो बहुत निचला लक्ष्य है, काल की आराधना से मिलने वाली एक निम्न स्थिति है और मुक्ति का अर्थ उस परब्रह्म से एकाकार होने का नाम है, जल का समुद्र में जलरूप हो जाने का नाम है, जिसे डाक्टर साहब ने स्वयं माना है कि' वह अपार श्रद्धा और प्रेम में भरपूर रहकर सदा प्रभु-चरणों का भ्रमर बना रहना चाहता है । ' और भी, ऊपर के उदाहरण जो स्वयं श्री गुरु नानक देव की वाणी से ही लिये गये हैं, क्या इस बात के लिये पर्याप्त नहीं है कि गुरु जी प्राणिमात्र का चरम उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति या ब्रह्म से एकरूप हो जाना बतलाते हैं ? इस परम सत्य को कैसे झुठलाया जा सकता है ?

नानक वाणी के इस मर्म का सार जानने वाला कोई भी व्यक्ति इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि वह मानव को ' सच्चे नाम समावकणिआ ' का सन्देश देना चाहते थे, वे स्पष्ट कहते हैं ।

'राम भगति गुर सेवा तरणा
बाहुडि जनम न होय है मरणा । १ ।

—रागु गुआरेरी म० १

रागु आसा में भी उन्होंने फरमाया है—
हरि हरि नामु भगति प्रिअ प्रीतमु, सुख सागरु उरधारे ।
भगति वछल जग जीवन दाता, मति गुरमति निसतारे ।
मन सिउ जूझि मरै प्रभु पाए, मनसा मनहि समाए ।
नानक क्रिया करे जग जीवनु सहज भाय लिव लाए ।

—घर १, सोदरू ।

अब हम इस स्थिति में पहुँच गये हैं कि नानक के मुक्ति के अनुबोध को भली प्रकार जान सकें, वैसे तो' जिन चाखिआ तिन आइआ सादु' के अनुसार यह बात अनुभव द्वारा ही जानी जा सकती है, तो भी नानक देव ने जिन साधनों को मुक्ति के लिये अनिवार्य माना है, वे संक्षेप में इस प्रकार से कहे जा सकते हैं :—

१- भाणे या नियति पर बल ।

२- द्वैत-दूई भाव को दूर करना ।

३- गुरुमुखि बनना परमावश्यक है ।

४- सत्संग तथा साधु जनों की संगति ।

५– सच्चा आचार १

६– मधुर भाषना, नम्रता, सेवा–भाव एवं त्याग-भाव।

७– निरहंकार, आत्म–चीन्हना ।

८– सबसे बढ़कर वाणी, शब्द, नाम रटन, सुरति, प्यारा [2]

९– प्रभु–प्रेम या भगवद्–कृपा ।

१०– जगत के विषय में निवृत्ति मार्ग । [3]

११– सतगुरु या गुरु की उपलब्धि । [4]

१२– काम, क्रोध, लोभ, आदि का त्याग करके सहजावस्था ।

गुरुनानक देव विश्वविद्यालय,
क्षेत्रीय केन्द्र, जालधर ।

(पृष्ठ 33 का शेष)

प्रोफेसर ।'' घिरे हुए क्षण' में दिलीप अपनी आन्तरिक व्यथा को मोहनी से प्रकट तो नहीं कर पाता परन्तु अन्तर्मन में सोचता है —"मोहनी एक पराई औरत है—कितने ही लोगों से घिरी हुई एक औरत !"

यद्यपि स्तर–भेद के आधार पर लिखित कहानियों में नारी–पुरुष के अहं की टकराहट प्रमुख रही है इनमें नारी अपने को सर्वोपरि ही नहीं सिद्ध करना चाहती बल्कि अपने को पूर्ण नारी बनाना चाहती है ; इस संपूर्णता के झफट को अखण्ड रखने के लिए वह मां तक नही बनना चाहती जो उसके सफल पत्नीत्व का प्रतीक माना जाता है ; तथापि विडम्बना यह है कि ये नारियाँ अपनी अखण्डता के प्रति भी तटस्थ नहीं रह सकी हैं । पति की मृत्यु–उपरान्त दीपाली का अहं चूर हो जाता है । अपराजिता की आरती भजन की अनुपस्थिति में सोचती है—" काश ! वह माँ होती तो उसके जीवन की रिक्तता आज इतनी असह्य नहीं होती "; और ग्रोथ की आधुनिका नारी विवश हो कर कहती है—" औरत बेचारी क्या कर सकती है सिवाय इसके कि अपना सब कुछ दांव पर लगा दें।" पति के अविश्वास का उत्तर देते हुए कहती है—" औरतें चाहे कितनी भी खुली खुर्राट हों, पर देह वे हर किसी के हाथ नहीं बेच सकतीं।"

चर्चित कहानियां—

1 फ्राक वाला घोड़ा निकर वाला साईस—गिरिराज किशोर ।
2 अलग अलग अस्वीकार —से० रा० यात्री ।
3 ग्रोथ —शशिप्रभा शास्त्री ।
4 अपराजिता —शिवानी
5 ये भी कोई गीत है— दीप्ति खंडेलवाल
6 घिरे हुए क्षण —महीप सिंह

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय

---

१— सुकित कीता रहसी मेरे जीअड़े, बहुड़ि न आवै (गुरु नानक दर्शन, पन्ना ५२)

२— सुरति सबदि भवसागर तरीऐ,
नानक नामु बखाणे । (सिध गोसटि, म० १)

३— ढंढोलिमु ढूढिमु डिटु मैं नानक जगु धूए का धवलाहरु ।

४— बाझु गुरु डुबा संसारु .........( वार माझ की, पन्ना ३८ )

# कार्यशील नारी-आर्थिक स्तर-भेद का प्रश्न

## ( नई कहानी के विशेष संदर्भ में )

कुमारी अनिल गोयल

इस भौतिकतावादी युग में तेजी से बढ़ते हुये औद्योगीकरण एवं शहरीकरण ने, नारी की आत्मनिर्भर तथा आत्मनिर्णायक होने की आकांक्षा ने उसके मानसिक गठन और परिणामता पुरुष के साथ उसके सम्बधों को भी प्रभावित किया है । स्त्री ने पुरुष के समान भिन्न सामाजिक कार्यों में योग देना आरम्भ किया तो दोनों की स्थितियों में व्यापक परिवर्तन स्वाभाविक था । आर्थिक स्तर पर उत्तरदायित्व संभाल लेने के कारण स्त्रियों में अपने अस्तित्व के प्रति चेतना जागी और उसका अहं भी समर्थित होने लगा ।

आर्थिकदृष्टि से नारी के 'अहं' की परिणति जहां उसके स्वावलम्बिनी बनने में परिलक्षित होने लगी वहीं यह स्वावलंबन पति–पत्नी के स्तरों में परिवर्तन लाकर नयी समस्याओं को जन्म देने लगा ।

डॉ० रामदरश मिश्र के शब्दों में "पति पत्नी के संबंधों में अलगाव लाने में दोनों की नौकरी का स्तर भेद भी सहायता करता है ।" पति बेरोजगार हो या उसकी नौकरी अपेक्षतया निम्नस्तर की हो तो पत्नी स्वत: ही पति से ऊंची हो जाती है। पुरुष का अहं इस नयी स्थितिसे समझौता नहीं कर पाता। पत्नी यदि उसी विभाग में काम करती हो तो यह स्थिति पति के लिए और भी कुण्ठाजनक बन जाती है । पत्नी के सामान्य व्यवहार से भी पति समझने लगता है कि पत्नी जानबूझ कर उसे नीचा दिखलाना चाहती है। दूसरी ओर उसका विरोध पत्नी को यह भ्रान्ति देने लगता है कि पति न केवल ईर्ष्या अनुभव करता हैं बलिक उस पर अविश्वास भी कर रहा है। अपनी नैसर्गिक प्रवृत्ति और संस्कार के अनुसार नारी अनेक कष्ट सहन करने के लिए तैयार रहती है किन्तु अपने प्रति अविश्वास एवं सन्देह नहीं सह सकती है। फल स्वरूप दोनों के बीच दूरी बढ़ने लगती है और कलह का जन्म होता है ।

उपर्युक्त संदर्भ में गिरिराज किशोर की कहानी 'फ्राक वाला घोड़ा निकर वाला साईस' में पति एक साधारण क्लर्क है और पत्नी डिप्टी सेक्रेटरी । ऐसी स्थिति में पति के स्वतन्त्र मूल्यों की रक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता । पति से अधिक कमाने वाली रीता व्यक्तिगत संबंधों में आर्थिक महत्व की प्रतिष्ठा करते हुए कहती है—" आप पुरुष लोग समझते हैं। जो कुछ आप कमा लाते हैं उसके कारण हम लोग आप लोगों का सम्मान करते हैं और इसी कारण आप लोग अपने आपको स्वतन्त्र रख पाने में समर्थ हैं । लेकिन आज व्यक्तिगत सबंधों का भी आर्थिक महत्व अधिक है। अगर मैं आपसे छः गुणा कमाती हूं। तो छः गुणा बड़ी भी हूं ...।" ऐसे सांघातिक क्षणों में परम्परा प्रथित मान्यताओं में विश्वास रखने वाला पुरुष यही कहता है—"रीता तुम्हें मालूम है—क्या कह रही हो ? भारतीय सभ्यता यही है। घर का पुरुष चाहे एक आना कमा कर लाये, उससे परिवार का एक धर्म बनता है, परम्परा और सस्कार बनते हैं। स्त्री का कमाया धन अस्पृश्य है उससे परिवार में कुसस्कार जन्म लेते है। जीवन दूषित हो जाता है ..।" परन्तु रीता के लिए यह मूल्य नितान्त अर्थहीन हो चुका है। वह पति से अधिक कमाती है अतः उसकी सोसाइटी अलग है जिसमें 'एडजस्ट' होने के लिए पुराने मूल्यों का त्याग आवश्यक है—" आप यह कैसे समझते हैं कि आप की सोसाइटी में दिन भर आपसे बंधी–बंधी डोलूं । मेरी सोसाइटी में...

मेरा तो कोई सवाल ही नहीं उठता । आप चाहते हैं अन्य क्लर्कों की पत्नियों की तरह मैं भी आपनी सेवा में हाथ बांधे खड़ी रहूं । ...पति के रुष्ट हो जाने पर मुझे नरक मिलेगा इसका मुझे कोई डर नहीं ...।''

रीता कांशस प्रवृत्ति की नारी है जो अपनी कमाऊ स्थिति के पति को गंवार कहने तथा क्लर्क सिद्ध करने में कोई कसर नहीं छोड़ती—'' हीन है, हीनता उसमें कूट–कूट कर भरी है मुझे उससे घृणा है ।'' रीता के इस अहंकार के कारण ही ' ऑड आवर्स ' का प्रश्न उभर उठता है जिसे कथानायक अपने शब्दों में यूं बयान करता है—'' साधारणतया हम लोग अनुपयुक्त क्षणों (ऑड आवर्स) में एक दूसरे को डिस्टर्ब नहीं करते । यह बात हम लोग किसी से कहते वहते नहीं । लोग बाग इस बात को समझ तो पाते नहीं, पूछने लगते हैं—''पति पत्नी के लिए क्या 'ऑड आवर्स ?'' इसी प्रकार की मन:स्थिति से आक्रान्त हैं 'अलग–अलग अस्वीकार' की शकुन्तला और पांडेय जी । पांडेय जी नारी को तुच्छ एवं अज्ञानी ठहरा कर पारिवारिक झंझटों से अलग रखना चाहते हैं किन्तु शकुन्तला इन झंझटों में स्वेच्छा से उलझना चाहती है क्योंकि वह पांडेय की पत्नी होने के नाते समस्याओं के समाधान में अपना पूरा योगदान चाहती है ।

'ग्रोथ' कहानी में शशिप्रभा शास्त्री ने इसी विषय को एक अलग ढंग से चर्चित किया है । अहं को कायम रखने और पत्नी से बदला लेने के लिए पति नीच काम करना शुरू करता है । अपनी हीन भावना की अभिव्यक्ति का यह अच्छा माध्यम है । वह फ्लैश खेलता है, शराब पीकर रात रात भर बाहर रहने लगता है'' । फ्लैश खेलने की इनकी आदत नहीं थी बीवी बराबर का या कहिए कुछ ज्यादा ही कमाने लगी है, तो किसी तरह अपने को ऊचा रखने का यह जरिया इन्हें पसन्द आया, कि गयी रात तक देर बाहर रहें ।... सो इस तरह यह संतुष्ट होने का ढोल पीटते रहे और संतुष्ट होते रहे ''। पति का अहं इतने से भी संतुष्ट नहीं हो पाता और वह पत्नी के आफिस के हर व्यक्ति को उसका यारदोस्त करार देता है और उसके सभी प्रकार के संबंधों को सेक्स के संदर्भ में ही परखता है—'' मुझे देखने आने का तो बहाना है, ये सब लोग तेरी खातिर आते हैं ।''

इस संदर्भ में कई पति–पत्नी संबंध ऐसे भी दिखते हैं जहां पति अपनी कमी को नजरन्दाज कर देते हैं और समझौते की कोशिश करते हैं । ' अपराजिता' में आरती औरताना व्यवहार को तिलाँजलि देकर अपनी दुःसाहसी वृत्ति का भरपूर परिचय देती है और पति भजन उसके लिए हर सुख का साधन जुटाता है । लेकिन कब तक ऐसा चलता, कब तक भजन उसके लिए चाय बनाता ? मानसिक हीन भावना का किसी न किसी रूप में प्रकट होना अनिवार्य है । भजन भी साधु बनने की तैयारी कर लेता है । वह घर–बाहर त्याग निर्जन वन में रहने लगता है तब आरती को प्रथम बार अहसास होता है— '' उसके बाह्य आवरण के बीच उसकी ऊंची नौकरी, उसकी प्रतिभा, उसकी ख्याति के बीच केवल पत्नी भाव की ही धारा निरन्तर बहती रही थी । इसी धारा में उसके जीवन की सार्थकता थी, जिसे वह आज तक एक क्षीण धारा ही समझती रही थी ।''

पारम्परिक विवाह तो इस स्तरभेद के कारण शिथिल हो ही रहे हैं , इन्होंने प्रेम–विवाह की एक-सूत्रता में भी टूटन लाने में कोई कसर नहीं छोड़ी है । 'ये भी कोई गीत है' की डॉ० दीपाली और प्रोफेसेर इन्द्रनाथ इन दोनों की सफल गृहस्थी को रतिअनंग की जोड़ी कहा जाने लगा था । किन्तु इस सफल गृहस्थी की आन्तरिक छटपटाहट थी दोनों के स्तर–भेद की । दीपाली दिन भर अस्पताल में मरीजों में व्यस्त रहती, शाम को अन्य छोटे कामों में उलझी रहती और इन्द्रनाथ की रोक–टोक पर अंटशंट बक देती । एक दिन इन्द्रनाथ का अन्तर्पुरुष तिलमिला कर पूछने लगा—''तुम मुझे बेवकूफ कह रही हो, दीपाली । इसलिए कि आज तुम हजारों कमाने वाली प्रसिद्ध सर्जन हो और मैं...मैं सिर्फ पांच सो कमाने वाला

(शेष पृष्ठ 31 पर)

# आधुनिक कृष्ण काव्य में शृंगार

डॉ० सुरेन्द्र कोहली

संस्कृत और हिन्दी दोनों श्रेणियों के आचार्यों ने शृंगार–रस के दो भेद माने हैं—संयोग शृंगार और वियोग–शृंगार [1]। नायक और नायिका के परस्पर मिलन, प्रेम पूर्वक वार्तालाप, दर्शन, स्पर्श आदि के वर्णन को संयोग शृंगार कहते हैं और जब नायक और नायिका परस्पर विमुख हों, वे इच्छा होने पर भी न मिल सकें तब वियोग या विप्रलम्भ–शृंगार होता है।

आधुनिक कृष्ण–काव्यों में शृंगार के उक्त दोनों ही पक्षों की व्यापक और सजीव अभिव्यञ्जना हुई है। विवेच्य कवियों ने संयोग शृंगार के अन्तर्गत कुञ्ज-विहार, यमुना–स्नान रास–लीला, हिन्डोला–विहार, फाग–लीला आदि जितने भी संयोग–क्रीड़ा–संबंधी विधान हो सकते हैं, उन सभी का वर्णन किया है। इन्होंने राधा, गोपियों और कृष्ण को परस्पर आलम्बन और आश्रय बना कर वय: सन्धि, वसन्त आदि शृंगार के उद्दीपन विभावों, संचारी–भावों तथा अनुभावों का रसानुकूल वर्णन किया है। इस वर्णन में मद का विशेष समावेश है। कुंज केलि का एक दृश्य द्रष्टव्य है :—

एक टक वदन निहारें बलिहार लै लै
गाढ़े भुज भरि लेत नेह सौं लहकि लहकि ।
गरें लपटाय प्यारी बार बार चूमि मुख ।
प्रेम भरि बातें करै मद सौं बहकि बहकि । [2]

विद्यापति तथा रीतिकाल के कवियों के संयोग–वर्णन से प्रभावित इस प्रकार के चित्र भारतेंदु काव्य में पर्याप्त परिमाण में मिलते हैं। एक दो चित्र और देखिये—

गोपियाँ यमुना पर नहाने के लिए गई हैं परन्तु कृष्ण वहां पर खड़े हैं, इस लिए गोपियों के लिए स्नान करना कठिन हो गया है। जो भी गोपी जल में प्रवेश करती है, कृष्ण उसी के वस्त्र चुरा लेते हैं, उसका हार तोड़ देते हैं, कंचुकी फाड़ देते हैं और फिर पीछे से पीठ मलने लगते हैं।

जमुना तट पर ठाढ़े नंद–नंदन कोऊ नहान न पावै हो ।
जो कोऊ जल पैठत मज्जन–हित ताको चीर चुरावैं हो ॥
तोरत हार कंचुकी फारत चढ़त कदम पै जाई ।
पुनि पाछे ते पीठ मलत है ऐसो ढीठ कन्हाई ॥ [3]

काम केलि में रत नायक–नायिका के निम्नलिखित दृश्य में रीतिकाल का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है :—

आजु कुंज विहरत दोउ रस भरे
प्रिया व्रजचन्द संग चतुर चन्द्रावली ।
सुरति श्रम स्वेद मुख परस्पर बढ़्यो सुख
टूटि रही उरसि मुकुतानि हारावली ।
गिरत तन वसन नहिं थिरत बेसरि तनिक
खसित सुभ सीस ते कलित कुसुमावली । [4]

कृष्ण के सौन्दर्य–वर्णन में भी रीतिकाल का अनुसरण हुआ है। निम्नलिखित पंक्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं :–

---

(1) क तत्र शृंगारस्य द्वौ सम्भोगो विप्रलम्भश्च / काव्य प्रकाश पृ० 61 मम्मट
ख विप्रलश्भोश्च संभोग इत्येव द्विविधो मत: / (साहित्य दर्पण 3/190 विश्वनाथ
ग शुभ सयोग वियोग पुनि दो श्रृंगार की जाति–रसिक–प्रिया (केशव) 1/18
घ सु तो एक संयोग है विप्रलम्भ कहि और / द्विविध होत शृंगार यों वरनत कवि सिरमौर–काव्य कुल कलपतरु (चिंतामणि)

(2) भारतेन्दु ग्रंथावली– भाग दो, पृष्ठ 150 (3) वही, पृष्ठ 71 (4) वही, पृष्ठ 53

सोहत ओढ़े पीत पट, श्याम सलौने गात ।
मनो नीलमणि सैल पर, आतप परयो प्रभात ।।
आतप परयो प्रभात किधौं बिजुरी घन लपटी ।
जरद चमेली तरुनमाल में सोभित सपटी ।।
प्रिया रूप-अनुरूप जानि हरिचन्द विमोहित ।
स्याम सलोने गात पीत पट ओढ़े सोहत ।। [1]

किशोरीलाल गोस्वामी की कृति "होली रंग घोली" में चित्रित राधाकृष्ण में भी वही प्रबल उन्मत्तता है जो रीतिकालीन राधा-कृष्ण में है । फूलों की सेज पर आलिंगनबद्ध राधा-कृष्ण का एक चित्र अवलोकनीय है :—

सगम नवीन सिसकीन करि मौन सम
उछरि धरी न धरै भागन चाहति है,
ज्यों ज्यों पिय पियारे भरि भुज सों प्रसून-सेज
त्यों त्यों कुच कर दे सुनीवी को गहति है ।
एकोन बसाइ सारी रजनी गंवाई, कुच ..
कलस कपोल-छत सुधि न लहति है ।
प्यारी की उनीबी अनियारी रतनारी आँख ।
चढ़ि रह चित्त न उतारे उतरति है । [2]

विवेच्य काव्यों में कायिक, वाचिक और सात्विक अनुभावों की मनोहर एवं भाव-व्यंजक योजना हुई है । निम्नोद्धृत उदाहरण में संयोगावस्था में कायिक और सात्विक अनुभावों के रूप में हाथ मटकाना, नेत्रों के सैन चलाना, कुचों का खुलना, अलकों का डुलना और मस्तक पर पसीने की बूँदों के छा जाने का चित्ताकर्षक वर्णन हुआ है :—

बहुभाँति हाथ मटकातीं थीं, नैना के सैन चलातीं थीं ।
कुच उनके खुल-खुल जाते थे, अलकें भी डुल-डुल जाती थीं ।
थकने से बूँदें पसीने के मस्तक पर छाये ऐसे थे ।।
घनश्याम संग जैसे बिजली वर्षा में शोभा पाती है ।
वैसे गोपी गण की शोभा घनश्याम संग दरसाती है ।
गाने की तान लगाकर के कोई गोपी जो थकी हुई ।
हरि के कंधे पर हाथ रखे प्रेमासव पी कर छकी हुई ।। [3]

हाव, हेला आदि अनुभावों का चित्रण बलदेव प्रसाद मिश्र ने बड़े सहज और यथार्थ रूप में किया है । प्रिय प्रवास में उन्मादिनी नायिका के स्वेद अनुभाव सहित भ्रम, आदि संचारी भावों का चित्रण द्रष्टव्य है :—

देखि तोहि ताप उपज्यो है साँवरे के तन,
सेव-फन छाये के हूँ धीर नहि धरे री,
थकि सो रह्यो है बैठि ढीलो ह्वै कदम्ब तरे,
झपि झपि जाति नैन बाँसुरी बिसारो री ।
हिय धरि हाथ माथ हूं पै साथ वादेन सों
जानि कहा माँगै खोले मुँह न उधारे री ।
तेरो कहा जात हरहीं तै पीर वाको क्यों न ,
चंचल दृगंचल तै दूर करि छारै री ।। [4]

संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत फाग-लीला और हिंडोला क्रीड़ा के माध्यम से नायक-नायिका को अपनी प्रेम भावना को साकार एवं मुखरित करने का सुन्दर अवसर मिलता है । विवेच्य काव्यों के इन प्रसंगों में भी श्रृंगार रस का मधुर संचार हुआ है ।

होली एक पवित्र त्यौहार है । इसमें ऊँच-नीच और धनी निर्धन आदि का भेद भाव नहीं रहता । सब कृष्ण व्रजवासियों के साथ मिलकर इस त्योहार को मानते हैं । व्रज वनिताएं कृष्ण को किस प्रकार नचाती है देखिये—

---

1 भारतेन्दु ग्रन्थावली—पृष्ठ 334, 2 होली रंग घोली—किशोरी लाल गोस्वामी-पृ० 4,
3 श्री कृष्ण चरित पृ० 189 4 व्रज विभूति पृ० 16

गोपियाँ बोल उठीं, गिरिधर, फूंको सुधार इस होली में ।
मुद्दत के बाद फँसे आकर ब्रजवननिताओं की टोली में ।।
बलपूर्वक तुम्हें नचायेंगी, हे ब्रजपति, हम ब्रजगोरी हैं ।
तुम नन्द गाम के छोरा हो, हम बरसाने की छोरी हैं ।।
इतने में किसी गोपिका ने कुमकुमा एक तककर मारा ।
हो गया लाल का लाल गाल पटका एक भीज गया सारा ।।
फिर पिचकारी ऐसी छुटी, नहलाया कुँवर कन्हैया को ।
लो और सुधार करो लाला बुलवाओ दाऊ भैया को ।। [1]

कृष्ण के साथ झूला झूलती राधा के भय और अकुलाहट का वर्णन अनेक कृष्ण काव्य प्रणेताओं ने किया है । यहाँ पर हम बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के काव्य से एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं :—

झूले नवल लला संग नवेली ललना ।
ताक झाँक औ झुकनि मैं छुटत छलना ।।
झौंका लहि अकुलाय प्यारी अंगन दुराय ।
डरी जाय जाय, अंचल कहूँ ते टलना ।।
पिय लगै हिय आय, तिय सकुचाय ।।
लेन चहत बाय, पै चलत बल ना ।।
जो लजाय, अनखाय, बाँकी भौंहन चढ़ाय ।
जात जुवति रिसाय, तो परत कल ना ।
फेरि नैनन मिलाय, मन्द मन्द मुसुकाय ।
प्रेमघन बरसाय, रस तजै पल ना ।। [2]

आलोच्य काव्यों में वियोग श्रृंगार का वर्णन कृष्ण के मथुरा प्रस्थान से आरम्भ होता है । कंस के बुलाने पर कृष्ण प्राण प्यारी राधा और गोपियों को छोड़कर मथुरा जाने को तैयार होते हैं और राधा तथा गोपियाँ इस दुखद समाचार को सुनकर व्याकुल हो जातीं हैं । राधा का मुख सूख जाता है, होंठ नीले पड़ जाते हैं, आंखे अश्रुओं में डूब जाती हैं और शंकित हृदय काँपने लगता है :—

सूखा जाता कमल मुख था होंठ नीला हुआ था ।
दोनों आँखें विपुल जल में डूबती जा रहीं थीं
शंकायें थीं विकल करती काँपता था कलेजा
खिन्ना दीना परम–मलिना राधिका थीं । [3]

अन्य ब्रजवनिताओं की भी ऐसी ही बिषन्न दशा थी । कृष्ण के जाने की खबर सुनकर उनका हृदय विरह की ज्वाला से दग्ध हो जाता हैं और आंखों से अश्रुओं की अविरल धारा प्रवाहित होने लगती है ।

पिय से मिलीं मदन मदमाती देती सी हिय हार हार ।
वियोगिनी वनिताएं बिलख रही हैं आँसू ढार ढार ।।
सुनकर जाने की बातें जी जलता है छार छार ।
जावौं कहीं न पिया प्रेमघन जाऊँ तुम पर वार वार [4] ।।

मथुरा चले जाने के उपरान्त जब कृष्ण बहुत देर तक नहीं लौटते तो सब की आशाओं पर तुषरापात होता है । गोपियाँ कृष्ण के सौंदर्य और उनके अनुपम गुणों पर मुग्ध थीं इसलिए वे ज्यों ज्यों कृष्ण का स्मरण करतीं हैं त्यों–त्यों उनकी व्यथा और व्यग्र हो उठती है । एक वियोगिनी अपनी दशा को इस प्रकार व्यक्त करती :—

मीठे मीठे वचन जिसके नित्य हरि मोहते
हा ! कानों से श्रवण करती हूँ उसी की कहानी
भूले से भी छवि उसकी हूं देख पाती
जो निर्मोही कुँवर बसते है लोचनों में सदा थे ।। [5]

संजोगावस्था में आनन्द प्रदान करने वाली प्रकृति [6] वियोगावस्था में दुख प्रदान करती है । कृष्ण के बिना राधा को शीतल सुगन्धित वायु भी बैरी के समान प्रतीत

(1) कृष्णायन (रास–रहस्य पृष्ठ 10)—पं० राधेश्याम (2) प्रेमघनसर्वस्व पृ० 490—91 (3) प्रिय प्रवास–पद 53 सर्ग चतुर्थ (4) प्रेमघन सर्वस्व बद्रीनारायण 'प्रेमघन' चौधरी–पृ० 524 (5) प्रिय प्रवास पृ० 198 (6) भारतेन्दु ग्रन्थावली पृष्ठ62
घन गरजत बरसत लखि दोऊ औरहु लपटि लपटि रहे सोय । स्याम–स्यामा इक कुंज में अरू तीसरो निकट नहि कोय ।। दार्मिनिदमकत ज्यों–ज्यों त्यों त्यों—गाठी भरन भुजा की होय । हरिचन्द्र बरसत घन उत इत रस बरसत पिय–प्यारी दोय ।। 3 प्रिय-प्रवास पृ० 63

होती है :—

श्री राधा को यह पवन की प्यार वाली क्रियाएं
थोड़ी सी भी न सुखद हुई हो गई वैरिणी सी।
भीनी भीनी महक मन की शांति को खो रही थी
पीड़ा देती व्यथित चित्त को वायु की स्निग्धता थी ॥ [3]

संयोग के मधुर क्षणों का स्मरण करती हुई राधा अपनी विरहावस्था को विभिन्न उपमानों के माध्यम से निम्न शब्दों में निवेदित करती है :—

मंत्र पढ़े बाण से छूट गये तुम तो कनु
शेष रही मैं केवल
काँपती प्रत्यंचा सी
अब भी जो बीत गया
उसी में बसी हुई
अब भी उन बांहों के छलावे में
कसी हुई
जिन रूखी अलकों में
मैंने समय की गति बाँधी थी
हाय उन्हीं काले नाग पेशों से
दिन प्रति दिन, क्षण प्रतिक्षण बार बार
डँसी हुई। [1]

वह नित्य उस आम के वृक्ष के नीचे जाती है जहाँ कृष्ण ने बुलाया था क्योंकि वहां जाने से उसे शांति मिलती हैं :– पर इतना जरूर जानती हूँ–कि इस आम की डाली के नीचे–जहाँ खड़े होकर तुमने मुझे बुलाया था–अब भी बड़ी शांति मिलती है · [2]

सभी के एकमात्र इष्ट श्री कृष्ण हैं और सभी कृष्ण का गुणगान करती हुई भूली भटकी घूमती फिरती हैं। जहाँ–जहाँ कृष्ण ने उनके साथ क्रीड़ा की थी वहां वहां जाकर वे कृष्ण को ढूंढती हैं :—

भ्रमी सी, भूलीं सी सब विधि छकीं सी प्रणय में—
तटी तीरे बैठीं विरह रस के निलय में।
लगी गाने सारी गुण–गण सलोने सुजन का
पता लेने धायीं कतिपय कहीं श्याम घन का
तरंगों–फूलों से ललित लतिका देव द्रुम से
द्रुमों से कुंजों से विहग अलियों से, कुसुम से ।
सभी से वे लेतीं सविनय चलीं शोध वन में
शुभाशा प्राणों में भर दरस आशा नयन में ॥ [1]

उद्धव ब्रजागमन पर गोपियों की व्यथा और भी तीव्र हो उठती है। वे उद्धव के द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलने को तैयार नहीं इसलिये उसके ज्ञानपूर्ण सन्देश को सुनकर गोपियों की मानसिक दशा और भी विक्षिप्त हो जाती है। उनकी इस दशा का चित्रण रत्नाकर जी ने विविध अनुभावों के माध्यम से इस भाँति किया है :—

सुनि सुनि उद्धव की अकह कहानी कान
कोऊ थहरानी, कोऊ थानहिं थिरानी हैं।
कहै रत्नाकर रिसानी, बररानी कोऊ
कोऊ बिलखानी, बिकलानी, बिथकानी है।
कोउ सेद–सानी, कोऊ भरी दृग पानी रहीं
कोऊ घूमि घूमि परीं भूमि मुरझानी हैं ।
कोऊ स्याम स्याम के बहकि बिलखानी कोऊ
कोमल करे जो थामि सहमि सुखानी हैं। [2]

गोपियाँ तो कृष्ण के प्रेम की भूखी हैं । इसलिए वे उद्धव से कहती हैं कि हमें तुम्हारे ज्ञान का उपदेश नहीं चाहिए हमें अपने प्रियतम की प्रेम से परिपूर्ण बातें सुनाओ :—

ऊधो बात करो कछु नीकी

सुन्दर श्याम मदन मन मोहन माधव प्यारे पी की

1 कनुप्रिया—धर्मवीर भारती पृ० 58 (1) मधुपुरी–गया प्रसाद द्विवेदी पृ० 207
2 ,, ,, 61 (2) उद्धवशतक, पद 34 पृ० 40

हम प्रेमिन तजि प्रेम नेम नहिं भावत बतियाँ पी की
सानि सानि ज्ञान मिलावहु भासौ उनके जी की
बरसाओ रस प्रेम घन और लगे संग पी की ।। [1]

आलोच्य काव्य में वर्णित प्रेम उभय पक्षीय है । गोपियाँ जितनी कृष्ण के लिये व्याकुल हैं उतने ही कृष्ण भी राधा तथा अन्य गोपियों से दूर रह कर व्यथित हैं । राधा की स्मृति आने पर वे मूर्छित हो जाते हैं :—

जाकौ अघ–ऊरघ अधिक मुरझायौ है
कहै रत्नाकर उमकि गहि स्याम ताहि
वास वासना सौं नैंकु नासिका लगायो है
त्यों ही धूमि झूमि वेसुधि भए के हाय
पाय परे उखरि अभाय मुख छायो है—
पाए घरी में जगाई ल्याइ ऊधौ तीर—
राधा नाम कीर जब औचक सुनायो है । [2]

साहित्य शास्त्रियों ने विप्रलम्भ शृंगार के चार भेद माने हैं–पूर्व राग, मान, प्रवास और करुण [3] । मतिराम, [4] नन्द दास [5] और हरिऔध [6] इस के तीन भेद ही मानते हैं। इन विद्वानों ने करुण को विप्रलम्भ या वियोग शृंगार का भेद नहीं माना है ।

हरिऔध के प्रिय–प्रवास तथा अन्य आधुनिक कृष्ण काव्यों में हरिऔध के द्वारा निर्दिष्ट वियोग के उक्त पूर्वराग और प्रवास की सफल अभिव्यंजना हुई है । मान को विप्रलम्भ शृंगार परिगणित करने की परिपाटी आधुनिक काव्यों में मंद पड़ गई है । मान वास्तव में संयोग शृंगार के अन्तर्गत आता है । रीति कालीन कवियों की रूढ़–परम्परा के फल–स्वरूप इसे विप्रलम्भ में ठूंस देने की अनधिकार चेष्टा इस युग में अस्वाभाविक एवं अनुचित मानी गई है । इस लिए इसे विप्रलम्भ के अन्तर्गत अब ढूंढ़ना सम्भव नही है । अब तो मान वैसे ही प्रायः काव्यशास्त्रीय मर्यादा से बहिष्कृत हो रहा है। तदपि पुरानी लकीर पर चल कर कुछ वर्णन हुए हैं जो प्रायः विरले ही हैं ।

## पूर्वराग

यह वियोग एक दूसरे के प्रत्यक्ष दर्शन, चित्र–दर्शन, गुण–श्रवण एवं स्वप्न दर्शन से होता है । श्री राम नारायण अग्रवाल की रचना 'कूबरी में कुब्जा के पूर्वराग का वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है । गर्ग ऋषि के द्वारा कृष्ण के गुण–श्रवण से कुब्जा के हृदय में अनुराग के अंकुर अकुरित हो जाते हैं और वह सब कुछ त्याग कर श्याम की आराधना करने लगती है :-

सब तजि अब मैं सदा स्याम में लौ लाऊँगी ।
जग की, दौ की लौ न कबहुँ अब धधकाऊँगी ।।
निसि बासर बस नद ही को ध्याऊँगी ।
जो पाऊंगी उन्हें आपके गुन गाऊँगी ।। [7]

कृष्णायन मिश्र ने रुक्मिणी के पूर्वराग का वर्णन मित्रविन्दा के शब्दों में इस प्रकार कराया है—

परसेऊ हरि ब्रज निज पद–रेणु, गुननिगोप धनिसेवति धेनू
नीरव–कांति जानि बनमाली ऋतुपति पावस मानति आली
विलसत सुनि हरितनु पीताम्बर पहिरति पीत त्यागी नीलाम्बर
जानि हरिहिं गुंजा–अनुरागी, मुक्ता हार दिये सखि त्यागि
हरि शिर चन्द्रक सुनि सुकुमारी पाले शिखि उड़ शुक सारी
जानि धरी मथुरा धर श्यामा, वादति वेणु तजि वामा
लखि नवनत संग, वारिधर, पवनहु उत्तर ओर
प्रेषति प्रेमसन्देश, सखि, हरि–अनुरक्ति विभोर ।। [1]

---

1 प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग, पृष्ठ 454 2 उद्धव शतक, पद 2 3 रसिक–प्रिया, (केशवदास) 8/3 रस सारांश, 371
4 रसराज, 381 5 शृंगार दर्पण, 10/17 6 रस कलस पृष्ठ 250 7 कूबरी पृष्ठ 19

## मान

इस के अन्तर्गत प्रिय अथवा प्रिया के प्रणय एवं ईर्ष्याजन्य कोप का वर्णन किया जाता है। नायक नायिका के अनुराग की पुष्टि हेतु मान का वर्णन किया जाता है। जब मान थोड़ी देर के लिये हो तो मृदु, थोड़ा अधिक मान मध्यम और नायक नायिका की अनुनय विनय अथवा पाँव स्पर्श आदि से दूर होने वाला मान गुरु मान कहलाता है। यहाँ गुरु मान का एक उदाहरण प्रस्तुत है :—

मुकुर विलोकत नागरी सुघर रंगीली नारि
पर–तिय रति सम्भ्रम भयौ निज प्रतिबिम्ब निहारि
फेरयौ रिस ठानि उर कहत नवल सुकुमारि
ताहि के घर जाहु पिय उर राखि जो नारि
हा ! हा ! करि पायन परत श्याम मनावत बाल
इस में रिस उपजी वृथहिं पछतावत नन्दलाल
तौ बिनु जानहु आनि नहिं पुनि पुनि सौं है खात
तेरे ही अधीन प्रिय दूजे सौं नहि नात
दीखत यह प्रतिबिम्ब तव या दर्पण के माँहि
तजहु रोष अवलोकि पुनि तव मुख की सो छांह ॥[2]

## प्रवास

किसी कारणवश नायक के विदेश चले जाने पर नायिका के वियोग का वर्णन इस के अन्तर्गत आता है।

आधुनिक कृष्ण काव्यों में चित्रित वियोग शृंगार कृष्ण जी के मथुरा प्रवास से सम्बद्ध है, इस लिए विरह की दशा को विवेच्य काव्यों में व्यापक स्थान मिला है। प्रिय–प्रवास में राधा तथा गोपियों के हृदय में उत्पन्न वियोग के इस रूप का हृदयग्राही चित्रण हुआ है। निम्नोद्धृत पद में उद्धव को कहे गये गोप–गोपिकाओं के शब्दों में कितनी मार्मिकता है :—

कोई ऊधो यदि यह कहे काढ़ दे गोपिकाएं।
प्यारा प्यारा निज हृदय तो वे उसे काढ़ देंगी।
हो पावेगा न यह उनसे देह में प्राण होते,
उद्योगी हो हृदय तल से श्याम को काढ़ देवें[3] ॥

गोपियों की व्यथा को अभिव्यक्त करने वाले ऐसे कितने ही उदाहरण विभिन्न ग्रन्थों में मिलते हैं। सच तो यह है कि आधुनिक कृष्ण काव्यों में निरूपित शृंगार रस काव्य, मनोविज्ञान और दर्शन की त्रिवेणी है, जिस में स्नान करके हृदय पवित्र होता है और मष्तिष्क को शांति पहुँचती है।

● वरिष्ठ अनुसंधित्सु
स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, जम्मू।

---

1 कृष्णायन, पृष्ठ 110
2 राधा रमण विहार माला— बाबू बांके बिहारी लाल, दोहा 32–36,
3 प्रिय प्रवास, पृ० 197

# भारत की भूखी पीढ़ी

डॉ० चन्द्रशेखर

## समकालीन चिंतन बनाम समकालीन हिन्दी–लेखन :

विंशती के तीसरे पहर में युरोप के ढल रहे चिंतन के अनेक तेवर समकालीन हिन्दी–लेखन में उभरे हैं। भारतीय संदर्भ में क्या वे आधुनिकीकरण की ऐतिहासिक परिणतियां हैं? समकालीन बोध के साथ क्या उनकी कोई प्रक्रियात्मक संगति है? ये और ऐसे ही कुछेक प्रश्न बेसाख्ता घेराव करने लगते हैं। इनसे दो चार हुए बिना आगे बढ़ना न तो संभव है और न संगत ही।

आधुनिकता के जो तेवर युरोपीय चिंतन में पिछले दशकों में नमूदार हुए हैं, वे एक विशेष ऐतिहासिक परिवेश से जुड़े हैं। राज्यक्रांतियां, भीषण नरमेध, भयंकर रक्तपात, आंदोलन, विद्रोह, विश्वयुद्ध, युद्धपूर्व शीत–युद्ध, आतंक, युद्धकालीन, विनाश, युद्धोत्तर संत्रास, चक्राकारक संक्रमण, विघटन, अवमूल्यन, मूल्यभ्रंशता–यह है उस ऐतिहासिक परिवेश का यंत्रणा–शिविर जिसमें युरोप का चिंतन पनपा है। आधुनिक–बोध के नाम पर जो समग्र चिंतन सामने आया है, वह युरोप के विभिन्न नगरों, द्वीपों, उपद्वीपों में टुकड़ों के रूप में उभरा है और एक ही दिन में उसने आकार ग्रहण नहीं किया है प्रत्युत उपर्युक्त ऐतिहासिक परिवेश में निरंतर कई दशकों में प्रक्रियात्मक रूप में तत्कालीन विविध विरोधी सापेक्षताओं में जन्मा है और धीरे धीरे प्रचारित तथा प्रतिष्ठित हुआ है।

आज जब युरोप में एक आधुनिक बोध के चुक जाने और नव्य आधुनिकबोध के आगमन की बातें हो रही हैं वहां भारतीय संदर्भ में हिन्दी–नवलेखन में उसी चुके जा रहे आधुनिकबोध की चर्चा हो रही है, क्यों? यहां केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि भारत का ऐतिहासिक परिवेश बहुत से स्तरों पर युरोपीय ऐतिहासिक परिवेश से सर्वथा भिन्न है। यहां न तो अभी ईश्वर मरा है और न यहां लोग उसे मारने में इतनी जल्दबाज़ी करने के मूड में हैं–जितनी युरोप के लोगों ने की है। अतिरिक्त इसके यहां के लोग अभी तीन दशक पूर्व स्वतंत्रता–प्राप्ति के लिए चल रहे राष्ट्रीय अभियानों का एक अभिन्न अंग थे। उन्हें ऐसे आंदोलनों से अलग हुए बहुत समय नहीं बीता है। यहां युरोप जैसे यंत्रणा शिविर भी नहीं तने हैं। युद्धपूर्व, युद्धाकलीन युद्धोत्तर संत्रास के युरोप जैसे भयावह परिदृश्य भी भारत में उपस्थित नहीं हुए हैं। यहां के औसत व्यक्ति ने विच्छेद, अलगाव, आत्मनिर्यातन का विषदंश वैसा ही नहीं पाया है, और न वैसा ही, प्राविधिक उपलब्धियों के कारण, विशाल मशीन संगठन में वह स्वय सवेदना-शून्य यंत्र ही बना है।

इस दौरान भारतीय जन–जीवन युरोप के आधुनिक चिंतन से भी प्रभावित हुआ है। ये प्रभाव उसने अपने परिवेश की सापेक्षता में स्वीकार किए हैं। अत: भारत में आधुनिक–चिंतन के सविलंब समुदय के ऐतिहासिक कारण हैं। युरोपीय–चिंतन का तेवर यहां नगर जीवन के किसी स्तर में रोपित होकर साहित्य में अंकुराया है और समकालीन बोध की सापेक्षता में उभरा है वह यहां की आधुनिकता की प्रक्रियात्मक परिणति है। इस प्रक्रिया के मुख्य द्वार की अपेक्षा पिछले दरवाजे से जिस युरोपीय चितन का आयातन हुआ है वह हिन्दी–लेखन में फैशन–मात्र बनकर रह गया है। वह बराबर फ्लाप और हूट हुआ है।

हिन्दी के समकालीन लेखन में आधुनिकबोध की बेशुमार भंगिमाएं–मुद्राएं उभरी हैं। हिन्दी के समानधर्मी लेखक ने अनुकूल आलोचक न मिलने पर, अपना आलोचक स्वयं बनने का खतरा मोल लिया है। उसके आत्म-वक्तव्यों

में उसके लेखन की एक ऐसी नई नैतिक–चारित्रिकता सामने आई है जो उसे पूर्ववर्ती लेखन–धर्मिता से सर्वथा अलग कर देती है ।

हिन्दी का पूर्ववर्ती लेखन समकालीन चिंतन की दरी से उठ गया है और शाश्वत होने की अपनी शोभा यात्राओं में मसरूफ है । उसका न तो समकालीन व्यक्ति से कोई सरोकार और संवाद है और न उसके साक्षात्कार की उसको फ़ुर्सत ही है । उसे न कभी औसत इनसान की पड़ताल से गरज थी और न ही परवाह । इसीलिए उसके कर्म में वह आम आदमी गायब है । चिरंतनता के चक्कर में उसका रैटारिक निरा भाषण और पैबंद भरा है, चालू तनावहीन मुहावरों, सरलीकरण, सामान्यीकरण से आक्रांत है । उसके समग्र कर्म की संरचनात्मक मुद्रा छद्म आभिजात्य की है जिसमें आत्मस्फीति, तटस्थ असंपृक्ति, अप्रासंगिक समन्वयवादी समझौते, आरोपित दार्शनिकता का लटका, सांप्रतिक मानवीय संबंधों के यथार्थ अंतर्विरोध से नितांत बेरुखी है । वह साक्षात्कार नहीं सुरक्षा और फैशन पाने का साहित्य है, इसीलिए उसमें मानवीय अनुपस्थिति है । ऐसे बुजुर्ग साहित्यकार हमारे संपूज्य हैं । वे मंच अथवा पुरातत्व संग्रहालयों का शोभा–उपकरण है । मगर कोफ्त तब होती है जब "बूढ़ा गिद्ध पंख फैलाकर"[1] समकालीन रौशनी और हवा को भी रोकने लगता है ।

हिन्दी के समकालीन लेखकों ने आधुनिक बोध और नव्य–आधुनिक-बोध, दोनों के संदर्भ में रायजनी की है । अज्ञेय, राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, मन्नु भंडारी, उषा प्रियंवदा के लेखन और वक्तव्यों में आधुनिक बोध की खंड खंड अभिव्यक्ति हुई है और रमेश बक्षी, राजकमल, मुद्राराक्षस, कृष्णा सोबती, निरुपमा सेवती, दीप्ति खंडेलवाल, मृदुला गर्ग, के लेखन–चिंतन में नव्य आधुनिक–बोध की भंगिमाएं है ।

हिन्दी के पहले खेवे के समकालीन लेखकों ने असंतोष को नई पीढ़ी का जीवंत सत्य माना है ।[2] अपनी पूर्ववर्त्ती तथा अपने से अलग उसी समवर्ती पीढ़ी के लेखन में उन्होंने जीवन की मानसिक शिथिलता मानी है, जो उनके लेखन की सांप्रतिक प्रासंगिकता को सर्वथा अनद्यतन बना देती है । पूर्ववर्त्ती पीढ़ी विषय परिवेश में सन्मबयात्मक समझौतावादी मध्ययुगीन नुस्खा अब भी प्रयुक्त करती आ रही है । परिवेश–वैषम्य के प्रति उसमें विद्रोही चेतना नहीं है । व्यतीत के शव-वहन के प्रति असंतोष एक ऐसा सांस्कृतिक माध्यम है जो समकालीन लेखक को इस संघर्ष के लिए हथियारबंद करता है, जब कि पूर्ववर्ती पीढ़ी के लेखक इस संघर्ष में निःशस्त्र होकर परिवेश से संधियाचना करते फिरते हैं [3] ।

असंतोष की भी दो मुद्राएं सामने आई हैं : ठंडी और गर्म । चीनी सीमांत–सक्रमण तक एक शीत और निष्क्रिय असंतोष मिलता है और उसके बाद एक ऐसा अवैकल्पिक असंतोष उसकी धमनियों में कसमसाता है जो उन्हें चीर कर आक्रोश के रूप में अभिव्यक्ति पाता है । यह आग उसमें प्राचीन के संवाहन के प्रति नौसिया भी जगाती है और उसके आगे एक रचनात्मक आयाम भी खोलती है [4] । यही जीवंत असंतोष माना गया है [5] ।

## हिमखंड का फटना

वस्तुत: चीनी आक्रमण से भारतीय जीवन का तैरता हिमखंड फटा और फूटा है । हमारे ठंडे, नपुंसक असंतोष में एक आग खौलने लगी है । सत्ता, व्यवस्था, आर्थिक और सामाजिक विषमता में समकालीन-हिन्दी लेखकों की नई पीढ़ी ने कड़ी शिद्दत से अनुभव किया कि

---

1 अशोक बाजपेयी : बूढ़ा गिद्ध क्यों पंख फैलाए : फिलहाल पृ० 87–96
2 असंतोष नई पीढ़ी का जीवंत सत्य : एक परिसंवाद, धर्मयुग जुलाई 1967
3 मुक्तिबोध : नयी कविता का आत्मसंघर्ष और अन्य निबंध पृष्ठ 35, 36
4 शमशेर बहादुर सिंह : कल्पना : अंक 140, पृ० 39
5 धर्मवीर भारती : सारिका : नवम्बर : 1964

हमारी गुटनिरपेक्षता का ग्लैमर टूटा है और संक्रांत-बिन्दु से भारतीय अवाम की व्यक्ति–विच्छेदन की प्रक्रिया आरंभ हो गई है। विच्छेदित व्यक्ति स्वयं को असंतोष के इस नए ऐतिहासिक मोड़ पर पाता है, और पाता है कि वह आज़ादी के बाद लगभग सभी संदर्भों में बुरी तरह निरर्थक बना है।

यह असंतोष विद्रोही अस्वीकार को जन्माता है। पुरानी पीढ़ी पुरातत्व के स्थायी कक्षों में प्रतिष्ठित होने की फिक्र में थी। अतीत के रिक्त, थोथे जड़ मूल्यों की शोभा यात्रा में समकालीन लेखन ने न केवल उसकी पालकी में कंधा देना अस्वीकार किया प्रत्युत उस जलूस में शामिल होने से भी इन्कार कर दिया। वह अपने आगे पीछे अपने पोस्टर चिपकाए, हाथ में झंडा उठाए स्वयं ही अपना जलूस निकालने और अपने नारे उछालने के लिए उद्यत हो उठता है। यहीं उसका प्रस्थान आरंभ होता है।

## भारत की भूखी पीढ़ी : बीट आंदोलन : भूख का मानवीय संदर्भ :

क्या यह मात्र संयोग ही है कि ई० सन् 1962 में चीनी आक्रमण हुआ और उसी वर्ष अमरीका के बीटनिक एलेन गिन्सबर्ग की प्रेरणा से "भूखी पीढ़ी" का भी जन्म हुआ ? इसी वर्ष श्री गिन्सबर्ग कलकत्ता भी आए थे। "भूखी पीढ़ी" के प्रसंग में "बीट आंदोलन" का स्मरण हो जाना भी स्वाभाविक है। इन्हें एक मानने की सुखद भूल हिन्दी के चोटी के विद्वान भी करते आए हैं, जबकि "बीट आंदोलन" का जन्म वैषयिक प्राचुर्य्य से हुआ था और "भूखी पीढ़ी का समारंभ जीवन के महाअभावों से[1]। कलकत्ता की भूखी पीढ़ी" ने अपने संदर्भ में यौन–भूख के आरोप का विरोध किया है और भूख को मानवीय संदर्भ में परिभाषित किया है। ट्रामकार के पहिये को छाती पर झेलते हुए वहां के एक भूखे रचनाधर्मी के मुताबिक कुचल देने वाले हर पहिये के खिलाफ विद्रोह की भूख ही हमारी 'भूखी पीढ़ी' है[2]। यही भूख व्यापक मानव संवेदना से जुड़ कर भूखी पीढ़ी के माध्यम से एक नए रचानत्मक मुहावरे की खोज कररही है।

## समकालीन जीवन की सुरंगें : असंतोष, आक्रोश प्रतिशोध के पलीते :

भूखी पीढ़ी के भारतीय रचनाकारों के जीवंत अहसासों (?) के शिनाख़्ती तेवर भले ही चौंका देने वाले लगें, परंतु एक बार तो वे बड़ी बेरहमी से हमारे समकालीन जीवन में जमी बर्फ़ पर पैना प्रहार करते हैं। उनकी मान्यताएं पलीतों के जाल की तरह समकालीन ज़मीन की सुरंगों में दबी पड़ी हैं–और प्रत्येक टकराहट में वे बलास्ट करती हैं।

भूखी पीढ़ी में कसमसा रहा असंतोष, क्रोध, आक्रोश, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध है। वह दूसरों के दर्द में, घोर अवसाद में चीखता भी है और अपनी संपूर्ण शक्ति से आक्रमण भी करना चहता है। चाहता है एक ठोकर से जो झूठे माइनों में प्रतिष्ठित, पूजित है उसे तिरस्कृत कर दे। उसने अपना ही जीवन दर्शन रचा है :–इतिहास किसी चिड़िया तक का भी नाम नहीं, ईश्वर मांस का एक लोथड़ा है, अपने व्यक्तित्व के साथ आत्मा का एकीकरण ही शिल्पतंत्र है। मृत्यु 'गुरुत्वहीन' है, विध्वंस है। वह यशकामी नहीं। प्रतिष्ठा के सरकारी मार्ग पर मरे सांप की तरह निष्प्राण पड़े रहने नाम ही यश है।[3]

## "मुखोश–दा खुले नीन : अपने चेहरे से नकाब उतार फेंकिए।"

भूखी पीढ़ी पर अश्लीलता, नंगेपन, मर्यादाभंग,

---

1 समीरराय चौधरी, सुविमल वसाक : ट्राम के पहिये और कुचला हुआ आदमी, धर्मयुग : 23 मई, 1965, पृ० 4
2 बंगाल की भूखी पीढ़ी के मूर्धन्य कवि जीवानंद दास ट्राम–कार के पहिये के नीचे चार फर्लांग तक कुचलते–घिसटते चले गये थे। एक खबर : धर्मयुग : 23 मई 1965 पृ० 4
3 सुविमल वसाक : हंग्री जेनरेशन :—58, अगस्त 1964

शोदेबाज़ी, के आरोप उनके हैं, जो उनकी भूख और उसके कारणों को जानने का प्रयत्न करना भी गवारा नहीं करते। वे अपने मुखौटे उतार कर इस सत्य का साक्षात्कार करने से डरते हैं—क्यों कि जो यह सत्य उनके चेहरों पर रेखाओं के के रूप में उभर आया है और उसे छिपाने के लिए वे बराबर प्रयत्नशील हैं इसी भूखी पीढ़ी ने उपर्युक्त मुखौटाधारियों, प्रसिद्ध शिक्षा विशारदों, कला–विशेषज्ञों, बुद्धिजीवियों, राजनयिकों, प्रशासनिक अधिकारियों को बेशुमार दैन्याकृतियों के मुखोटे डाक से भेजे। उन पर लिखा था अपने चेहरे से नक़ाब उतार फेंकिए नक़ाब:—गलत अवधारणाओं, मान्यताओं संकल्पों, विश्वासों की नकाब, गलत मूल्यों, भाषणों, व्यवहारों की नक़ाब गलत मूल्यों रूपविधाओं, विधानों कला–पैटर्नस की नक़ाब [1]। भूखी पीढ़ी की भूख है ऐसे सभी मुखौटों को उतार कर ग़लत लोगों को अनावृत्त करने की जो जीवन को अनुशासित और प्रशासित करते आ रहे हैं।

## टीन-टप्पर सहित उड़ती मान्यताएं : घोषणा पत्र

भूखी–पीढ़ी का घोषणा–पत्र, व्यवस्था–बोध के प्रति आक्रोश और वर्तमान दिशाबोध के प्रति टोटल अविश्वास रेखांकित करता है। भूखी पीढ़ी का लेखक अपनी बुशर्ट उतार कर समकालीनता के चौराहे पर नंगा खड़ा है। एक हाथ में अपनी बुशर्ट का बैनर थामे है और दूसरे हाथ से समय की दीवार पर अपना घोषणा पत्र उरेह रहा है। समकालीन भीड़ का पूरा नोटिस पाने के लिए वह अल्फनंगा होना भी गवारा कर सकता है, बशर्ते कि उसे गंभीरता से लिया जाए, उसके घोषणा पत्र को पोशीदा बीमारियों का पोस्टर मात्र न समझ लिया जाए।

कलकत्ता की भूखी पीढ़ी के उपर्युक्तघोषणा पत्र को कुछेक समकालीन हिन्दी–लेखकों का भी पूर्ण समर्थन प्राप्त था इस संदर्भ में रमेश बक्षी और राजकमल चौधरी के नाम उल्लेखनीय हैं। घोषणापत्र इस प्रकार है [2] :—

1 हम सब लाज़मी तौर पर बेईमान हैं।

2 पति–पत्नी रिश्ते एक घातक रवायत है और जिस्मी–ताअलुक़ात पाक–दोस्ती है।

3 मां शब्द जन्म देने का बोधक है और जन्माना कोई एहसान नहीं इसलिए मां को मां नहीं बल्कि दीदी कहना ज्यादा वाजिब होगा।

4 बचपन के कच्चे रोमांसों की कविताएं, छुटपने में जगह जगह टट्टी–पेशाब करने और कच्ची मिट्टी खाने की आदतों जैसी हैं। बड़े होकर इन आदतों को दुहराना कोई अकलमंदी की बात नहीं।

5 लेखन हमारे लिए मिशन और आवसीजन है, महज़ तिलक या यज्ञोपवीत नहीं प्रत्युत शरीर की खाल है। कविता लिखना अपनी खाल खिचवाने से भी ज्यादा त्रासद है।

6 हम केवल रोज़ाना वेतन पाने की शर्त पर ही नौकरी करेंगे। बीमा और पैन्शन हमारे लिए निरर्थक है। जेल, अस्पताल, पागलखाना, श्मशान हमारे मनोरंजन गृह होंगे।

7 हमें बेपरदा जीवन पसंद है। इसीलिए दरवाज़ों पर पर्दे लटकाने की बजाए हम उनकी बुशर्ट सिलवा लेंगे क्योंकि पर्दे एय्याशी का साधन हैं।

## पुरानी नैतिकता के फटे हुए जूते और गिजगिजी जुराबें :—

बंगाल की भूखी पीढ़ी के अनेक तेवर समकालीन हिन्दी लेखन में भी उभर रहे हैं, गोया खरबूज़े को देखकर खरबूज़े रंग पकड़ रहे है। बंगाली पेटियों के खरबूज़े तो सड़ने की नौबत में है मगर हिन्दी खरबूज़े–भले हां स्वयं छुरी पर गिरें, या छुरी उन पर गिरे, कटना उनकी नियति है—इस नियति की इंतज़ार में वे हैं ?

1 राजकमल चौधरी : लेकिन यह भूखी पीढ़ी है क्या ? धर्मयुग, 17 जनवरी, 1965, पृ० 17

2 द्रष्टव्य रमेश बक्षी : नयी पीढ़ी : एक ऊंचाई की तलाश : धर्मयुग 27 जून 1965, पृ० 10, 46

भूखीपीढ़ी के संपर्क से हिन्दी-नवलेखन में परहेजगारी टूटी है। व्यर्थ का "वैजिटेरियनिज़्म" ख़त्म हुआ है। नतीजा यह निकला है कि समकालीन हिन्दी लेखक ने पुरानी नैतिकता के फटे हुए जूते उतार फेंके हैं और अब वह नए जूते खरीदने की ताक में है।

भूखी पीढ़ी ने अपनी आचरण-संहिता में कई नए नैतिक विधान माने हैं और हिंदी-लेखक ने भी उन्हें किसी न किसी रूप मे स्वीकार किया है।[1]

0 चटखारे लेकर किसी लड़की के प्यार की और नंगेपन की बातें करना किसी प्रकार अश्लीलता नहीं।

00 सर्वथा सर्वांशतः शरीर का होकर जीने से कोई कुंठा-ग्रन्थि नहीं बनती।

000 प्रेम और विवाह अलग-अलग ध्रुवों से जुड़े है ये दोनों विरोधी नहीं है, पर यह भी आवश्यक नहीं कि ये एक हो, तभी :

पति के अतिरिक्त पुरुष मित्र और पत्नी के इलावा प्रेमिका होने की बात समकालीन लेखक ने बड़ी गंभीरता से उठाई है।

0000 अजन्मे और मर चुके कल की चिंता किए बिना ही केवल वर्तमान को जीना, एकमात्र एक नया जीवन मूल्य है।

00000 संभोग मात्र एक संयोग है। सहवास बस में एक सफर करने के बरावर है। और संयुक्त शरीरों का अलग होना नाखून बढ़ जाने के बराबर है अथवा चप्पल की बद्दी टूट जाने के बराबर।

000000 संभोग में आत्मसमर्पण केवल एक शरीर का दूसरे शरीर के हवाले होना ही नहीं है।

0000000 : सारा समय प्रेमालाप नहीं हो सकता। ऐसा होना एक बड़ी हास्यास्पद स्थिति है—क्योंकि संवेदना का जागना पहले खाई हुई चाट के मसालेदार ज़ायके का याद आना है।

00000000 : पहले और दूसरे सैक्स के इलावा एक और तीसरा सैक्स भी है—विकृति, समलिंगिरति, पशुरति, हस्तमैथुन।

000000000 : सारे न्यूड्स एक जैसे झुर्रीदार होते हैं।

0000000000 : मानवीय-सबंधों के संदर्भ में हम लगातार कपड़े बदल रहे हैं स्त्री को साड़ी बदलने में जितना समय लगता है, सम्बन्ध बदलने में उससे भी कम समय लगता है।[2]

00000000000 : हमेशा वर्तमान में रहना एक नारकीय यंत्रणा है। जहां वर्तमान शाश्वत है, वहां शाश्वत भी अपना मूल्य खो देता है।

## कृतियां और मूंगफली : पुरस्कार और आलू का बोरा :

इधर समकालीन-लेखन-चिंतन में आलू और मूंगफली का काफी बोल बाला रहा है। उनके माध्यम से निर्णायक स्थितियों पर गंभीर विचार प्रस्तुत हुए हैं, सार्त्र ने नोबेल पुरस्कार अस्वीकार करते हुए, संपूर्ण पुरस्कारण प्रक्रिया के प्रति घोर अरुचि दिखाई है। पुस्कार भले ही कई लाख का हो अथवा आलू का बोरा वह समकालीन लेखन के परिवर्तित मिजाज के अनुकूल नहीं पड़ता है। इसी प्रकार हिंदी के सांप्रतिक लेखन में फैल रही मूल्य-भ्रंशता के संदर्भ में मूंगफली काम आई है। मुद्राराक्षस ने कहा—"सवाल यह है कि कृतियां कृतियां ही हैं, मूंगफली नहीं, जिन्हें तोला जाए" यह प्रश्न

1 द्रष्टव्य : रमेश बक्षी : किस्से ऊपर किस्सा : भूमिका
2 श्री कांत वर्मा : प्रेम कहानी : पृ० 80

समकालीनता से कटे हुए आलोचक की पूर्वाग्रही दुराग्रही प्रवृत्ति से जुड़ा है। समकालीन लेखन का परीक्षण करते समय वह एक दम फलाप हुआ है। अवमूल्यन के ऐसे कैंआस पर समकालीन लेखन ने "आउट आव डेट" हो रहे आलोचक के तराजुओं, बटखरों को अस्वीकार किया है। मूल्यांकन निरपेक्षता का नारा बुलंद किया है। जड़ आलोचना के अमृत कुंभ को नकारा है।—"हम लोग महाभारत नहीं लड़ना चाहते, हमें क्षमा कर दिया जाए, सारे मूल्य, सारी विजय–कीर्ति, पताकाएं, रथ, भूमि, स्वर्ण, सारा कुछ आप ले लाएं, हमें समीक्षा के अपने अमृत–कुंभ से मुक्त रहने दें..."[1]। संभवत: इसीलिए बंगला की भूखी पीढ़ी के एक आग्नेय हस्ताक्षर मलयराय चौधुरी ने अपने काव्य संग्रह के फलैप पर लिखा है कि लेखकीय आज्ञा के बिना समीक्षा नहीं की जा सकती। ऐसे सख़्त रवैये के लिए लेखक को उत्तर दायी ठहराना एक भयंकर भूल होगी। ऐसे संपूर्ण व्यवहार के लिए सामंतवादी मध्ययुगीन मानसिकता से ग्रस्त आलोचक उत्तरदायी ही हैं। भूखी पीढ़ी इन्हें समकालीन–लेखन के ऐसे शत्रु मानती है जिनकी जगह एक वेश्या की लाश तथा खच्चर की दुम के बीच कहीं है।[2]

क्या इस स्थिति को "पश्चिमी अविद्या" कह कर टाला जा सकता है भारत के अतीत के गलित गर्हित अंशों के प्रति घृणा, वर्तमान के क्रूर नग्न यथार्थ के प्रति आक्रोश हमें उस लाक्षागृह से खबरदार कर रहे हैं, जिसमें हम आज एक साज़िश के तहत कैद किये जाने की प्रक्रिया में से गुजर रहे हैं, सामंती, अर्धसामती तथा पूंजीवादी संस्कारोंके प्रेत इस महल को कब आग दिखा दें?—यह आज की रजस्वला, पुंश्चला राजनीति ही जानती हैं, भारत का औसत आदमी नहीं।

## महा–नगर बोध : शहराती संवेदना :–

समकालीन हिन्दी–लेखन में महा–नगर की लगभग केन्द्रीय स्थिति रही है। आधुनिकता और समकालीनता की प्रक्रिया का 'लीवर' उसी पर टिका है। इन महानगरों की दोहरी भूमिका रही है। युरोपीय प्रभावों का आयातन इन्हीं के अड्डों पर होता आया है। यहीं से ये प्रभाव नगरों, उपनगरों और कस्बों की ओर गए हैं, उपनगर महागर होने की, नगर उपनगर होने की, कस्बा नगर होने की प्रक्रिया में आए हैं। यह महानगरबोध इन सभी को किसी न किस स्तर पर छूता हुआ गुजर रहा है। इस संदर्भ में एक प्रश्न विशेष विचार की अपेक्षा रखता है। क्या भारतीय महानगरों को युरोपीय महानगरबोध के छोटे बड़े शिविर मान लिया जाए?[3] दिल्ली, बंबई, कलकत्ता, मद्रास आदि को पैरिस, प्राग, बर्लिन, रोम, न्यूयार्क, शिकागो, लन्दन के महानगरबोध की "पाकिट्स" मान लिया जाए? ऐसा मानना सर्वथा असंगत होगा। क्योंकि प्रत्येक नगर की अपनी ही सांस्कृतिक जड़ें होती हैं, जो किसी भी पानी को अपने ढंग से ग्रहण करें भी वह उसके अनुरूप ही शाखाओं–प्रशाखाओं में रूपान्वित होगा। "कास्मोपालेटिन" चरित्र को इख़्तियार करने के बावजूद बर्लिन नहीं है, मास्को न्यूयार्क नहीं है, और पैरिस, प्राग नहीं है। इनके महानगरीयबोध के भले ही कुछ एक समान तेवर हों मगर इनकी अपनी निजी और खास भंगिमाएं, मुद्राएं भी है। यहाँ तक कि एक ही देश के विभिन्न महानगरों का बोध भी एक समान नहीं होता है। दिल्ली, बंबई, कलकत्ता, मद्रास के अपने अलग–अलग परिवेश, संस्कार और 'टैंपरामैंट्स हैं'। यह बात मनाने में कोई गरेज़ नहीं कि हमारे महानगर युरोपीय प्रभावों की छावनियाँ रहे हैं बल्कि अब भी हैं। इनकी बैरकें यहां के

1 राज कमल चौधरा : मूल्य निरपेक्ष या मूल्यांकन निरपेक्ष: धर्मयुग : 20 जून 1965, पृ० 5
2 India : The Hungry Generation : Times : Nov. 1964
3 द्रष्टव्य : डा० रघुवंश: आधुनिक बोध या संवेदना : परिशोध, अंक 20, पृ० 10–12

ईंट-पत्थरों से बनी हैं-मगर इनकी शिल्प संरचना में युरोपीय हाथ हैं। परंतु फौजें कूच करती रही हैं । बहुत कम फौजी इन बैरकों से बाहर निकल कर अड़ोस-पड़ोस में अपने लिए टिन-शैड बना पाए हैं। जहां ऐसा हुआ वहां ही युरोप का महानगरीयबोध भारतीय नगरों में प्रक्रियात्मक स्वीकृति पाने में सफल हुआ है। अन्यथा वह इरावली की चोटियों पर से मौनसूनी हवाओं की भांति बिन बरसे उड़ गया है ।

हमारे महानगरों में युरोपीय नगर-दर्शन का खोल तो खड़ा हो गया है बल्कि उसे दिल्ली आदि महानगरों ने काफी ओढ़-सा लिया है मगर वह भीतर नहीं उतर पाया है। उनके जिस्म में रक्तसंचार की धमनियों से वह नहीं जुड़ा है, बल्कि जगह जगह गांठें बनकर उभर आया है । दिल्ली के शरीर में कितनी गांठे पड़ी हैं । ये छोटे छोटे सैल्ज-"टी हाउस", "थ्रीलर्स", केबरेज", "बीट-सेशन", "राक-राल", "जाज़-संगीत"-फकत गांठें ही तो हैं। मगर इनसे दिल्ली या किसी भी महानगर के कितने प्रतिशत लोग जुड़ हैं? जो जुड़े भी उनकी संपृक्ति का अनुपात क्या है? पूरे दिन में वे इस बोध को कितना जी पाते हैं पूरे परिवार में सभी के साथ कितना 'लिव' कर पाते हैं अपनी 'कस्बई संवेदना' को छिपाने के लिए मुखौटा कितनी देर पहने रहते हैं? दिल्ली इस बोध से अपनी जड़ों को कितना सींच पाई है? वह अपने पूरे चरित्र को कितना महानगरीय बना पाई है न्यूयार्क के पैटरन पर बनी तीस-चालीस मंजली इमारतों का एक बड़ा बाग लगा देने से महानगरीयबोध नहीं पनपता है । लोहा और कंकर ढल ढल कर चण्डीगढ़ तो बन सकता है मगर महानगरीयबोध नहीं । हमारी यही दिक्कत या सौभाग्य (?) रहा है कि महानगरों के परिवेश में भी हम अपने पुराने परिवेश से कट नहीं पाये है। बस यूं ही जरा फ्रेश होने के लिए "कनाट-पैलेस" के फुटपाथों पर तमाशबीन की भांति छूए-अधछूए घूम आते है। या नंगे अधनंगे, विवस्त्र, अवस्त्र हिप्पियों को पास की टेबल से देख भर लेते हैं और फिर हमें अपनी सीलन भरी कोठड़ियों में लौटना पड़ता हैं। घुटन में हम कुंठित भी हुए है और संस्कृति-विहीन भी। बल्कि एक हीनता-भरी आत्मग्लानि का शिकार भी हुए हैं ।

इसी सिलसिले में एक और बात भी बराबर कही गई-कि संक्राति की जो यातना युरोप के महानगरों ने झेली है, वह भारतीय महानगरों ने नहीं इसीलिए युरोपीय नगरबोध कई सौ वर्षों के संपर्क के बावजूद भी यहां के महानगरों में भी अभी तक अजनबी है। इस बात में कोई खास वजन नहीं है । यही बात युरोपीय नगरों पर भारतीय नगर बोध के कोई प्रभाव न पड़ने के संदर्भ में उठाई जा सकती हैं । दिल्ली की ऐतिहासिक यातना विश्व के किस महानगर से कम है । उसके दर्द के आगे युरोप के अनेक महानगर हल्के पड़ने लगेंगे। हिरोशिमा का एक महाविध्वंस दिल्ली के शताब्दियों तक के अविराम विध्वंस के आगे शर्मिंदा पड़ पड़ सकता है। संक्रांति की यंत्रणा की अपेक्षा विशिष्ट सांस्कृतिक धरोहर, दाय, और परिवेश की बात अधिक ठोस और पुख्ता है ।

युरोप और भारत के महानगरों में बोध-रूपांतरण की प्रक्रिया विभिन्न दिशाओं से शुरु हुई है। युरोप में ईश्वर मरा है या मारा गया है-यह ईश्वर ही जाने मगर वहां का ईश्वरहंता विद्रोही मानव जी उठा है। अब जबकि वहां ईश्वर के पुनर्जीवित होने की अफवाहें फैल रही हैं, वहां का वह ईश्वरहंता आदमी उसके बारे में फिर हिंसक और बर्बर हो उठा है। मगर यहाँ भारत में ईश्वर को जीवित रखने की कोशिश में आम आदमी मर रहा है। बल्कि आदमी ही आदमी को मार रहा है। खास आदमी आम आदमी को क़त्ल कर रहा है । यहाँ ईश्वर के मरने की न तो कोई संभावना है और न कोई आसार ही। यहाँ आदमी बराबर मरेगा। यह संभावना नहीं बल्कि निश्चित ही है कि मानव-हंता आदमी ही

यहां एक रोज ईश्वर बन जाएगा। तब पहले ईश्वर का क्या होगा ? यह हमारे लिए चिंता का विषय हो सकता है—उसके लिए नहीं, क्योंकि वह बखूबी जानता है कि ईश्वर सचमुच मर चुका है। मगर उसने बड़ी कामयाबी से इस राज़ को राज़ रखा है। यही उसके ईश्वर बनने की कुंजी है। ऐसी स्थिति में युरोपीय नगर—बोध यहां के सामान्य जन का जीवत—बोध नहीं बन सकता है। यहां नगरों के महानगरीय व्यक्तित्व उभर सकते हैं, मगर एक सर्वथा सर्वांशत: स्वीकृत महानगर बोध नहीं। इसी संदर्भ में भारतीय महानगरों की युरोपीय ग्रादतों की जांच पड़ताल होनी ग्रपेक्षित है।

हमारे ग्रमने महानगरों का जो मिज़ाज है उसमें फैशन ग्रौर पैदाइशी, पुश्तैनी, संस्कार शामिल हैं। कुछ खुद कमाए हुए वसफ भी हैं-इनमें काफी एक समानता भी है। दैत्याकार इमारतें, धुग्रां, उगलती चिमनियां। सायरन का नियमित चीत्कार, बेतहाशा भागते इजनों की फूली सांस ग्रौर दहाड़ें, थकी मोटरों -गाड़ियों की ग्राक्रोश भरी गुर्राहट, नगरों का राक्षसी-विस्तार, उसकी लम्बी फौलादी बांहों की गिरफ़्त में दिन रात निचुड़ रहा इन्सान, पूरी यांत्रिक नियति में यंत्र बन आया ग्रादमी, रोजमर्राह की निरर्थक रोटीन, ग्रौर भी व्यर्थ कर जाने वाले लंबे क्यू, भीड़ में ग्रपनी शिनाख्त खो चुका इन्सान, किस्तों पर जुटाई गई सुविधाग्रों में जीवन को ही क़िस्तों में काट रहा इन्सान, जलसों, जलूसों, हड़तालों, चुनावों में केवल एक खड़ा हुग्रा हाथ बनकर रह गया इन्सान—ये हैं हमारे महानगरों के हमशकल फीचर ग्रौर नक्श। इन महानगरों के कुछ शिनाख़्ती तेवर भी ग्रापस में मिलते हैं—घृणा, विभ्रांति, संत्रस्त विदग्धता, शोर, ऊब, मितलाहट, दुर्घटनाएं। इन सब का एक नाम है ग्रमानवीकरण। इसी ने मानवीय-सम्बंधों में दरारें डाली हैं, नैतिकता के ग्राधारों को उखाड़ा है पूरे नगर जीवन की अंतड़ियों में कैंसरिक गांठें डाली हैं।

समकालीन हिन्दी-लेखन में यह महानगर—बोध ग्रधिकांशत: सृजन—शीलता की प्रक्रियात्मक परिणति बनने में कामयाब नहीं रहा है। दिल्ली या महानगरों में बसा हिन्दी का ज्यादातर लेखन ग्रपनी कस्बई संवेदना ग्रौर संस्कारों से मुक्त होकर महानगर—बोध से पूरी तरह संपृक्त नहीं हो पाया है। वह इस बोध की विभिन्न भूमिकाग्रों में नंगे पाग्रों उतरने की बजाए पास से गुजरा है। उसका कमोबेश ऐसा ही सरोकार रहा है। रचनात्मक स्तर पर जो एक गहरा लगाव, संजीदा वाबस्तगी, गंभीर ग्रांतरिकता ग्रपेक्षित रहती है, वह ऐसे लेखन में प्रक्रियात्मक ढग से नहीं ग्रा पाई है। जो तनावपूर्ण जटिलता और कतिपय ठोस मानवीय विद्रूपताएं, टकराहट इसमें हैं वे प्राय: ग्रनुभव के ईमानदार संदर्भों से नहीं उठे हैं। मूल्य—संक्रमण के महानगरीय चौराहे पर जिस गंभीरता से नए यथार्थ की नगी—चुनौतियों को स्वीकारना दरकार था वह पूरे "कनसर्न" ग्रौर "इनवाल्वमेंट" के साथ समकालीन लेखक/लेखन में कम है यही कारण है कि कई सालों की निरंतर पड़ताल के बाद भी पूरे ग्रौर सही-सलामत, समकालीन ग्रादमी की तलाश पूरी नहीं हुई है। ग्रपनी पूर्ण—ग्रसमर्थता, लाचारी, मजबूरी, बेगानगी, उदासी, उबकाई, ग्रलगाव सहित यह ग्रादमी कहां पकड़ में ग्राया है ? वह शायद आए भी न। क्योंकि पूरे समकालीन ग्रादमी से समकालीन लेखन की ग्रभी भेंट नहीं हो पाई है। होती भी कैसे ? वह तो महा नगरीय नरक में विभक्त, विभाजित और रेज़ा रेज़ा हो चुका है। इस सदी में उसके पुन: जुड़ने की संभावना का सवाल तक नहीं उठ रहा है।

महानगरीय-बोध का एक ग्रौर तेवर भी है। वह है परिनिष्ठित वर्ग का सुकुमार ग्रभिजात तारल्य तथा ऐय्याशी की सुरक्षित—सुविधापूर्ण व्यवस्थाएं, दिमागी संभ्रात-कौलीन्य, निर्यातित उपकरणों में जीवन भोगने

---

1- द्रष्टव्य : डा० श्याम परमार : गरम हवाओं का ग्रोक्टोपस : ग्रकविता ग्रौर कला संदर्भ : पृ० 143–44

का परिष्कृत अंदाज, जीवन में कृत्रिम रिक्तता के भराव के शालीन ढंग। निर्द्वन्द्व, तनावहीन, संघर्षशून्य ठहरा हुआ जीवन। हिन्दी के समकालीन लेखन में अपने अनुपात के अनुरूप-यह तेवर भी रचन -सकल्प को छू भर गया है। बहुत कम ऐसे समकालीन हिन्दी-रचनाधर्मी हैं जो जीवन के उपर्युक्त आयामों में अपने पांवों पर आगे बढ़ कर उससे बग़लगीर हो पाए हैं।

महानगरों का एक और जीवित नरक है, जिसमें अभिशप्त लोग चंद सांसें लेने के लिए दण्डित हैं। महानगरों की गंदी बस्तियां, आबादियाँ, फुटपाथ, जनपथ,-ये नाज़ियों के यंत्रणा-शिविर ही हैं, जिनमें समकालीन सज़ायाफ्ता-आदमी तैहखाने में डाल दिया गया है। और उस पर कड़ा पहरा बिठा दिया गया है। मेल-मुलाक़ात बंद कर दी गई है। समकालीन हिन्दी-लेखन में यह व्यक्ति लगभग गायब सा ही है। समकालीन लेखक या तो इस नरक में गया ही नहीं। गया है तो टंडरा के साय बेरिया में निष्कासित इस व्यक्ति से भेंट नहीं कर पाया है। दोबारा उससे मिलने का वह साहस नहीं जुटा पाया है।

महानगरों में किसी भी बाढ़ का पानी जल्द ही उतर आता है और नितर भी जाता है। वह शीघ्र ही पेय बनकर आस-पास बंटने लगता है। मगर भारत के नगरों-महानगरों में संक्रांति की बाढ़ अभी तक नहीं उतरी है। गहरे-उथले, मटमैले पानी में परिदृश्यों की पारदर्शिता टूटी है जिसने जीवन के रिश्तों, लगावों और सरोकारों को तोड़ा है। वहां जीवन मूल्य तैह नहीं हो पा रहे हैं। बेशुमार चुनौतियों के "प्रासैस" से उन्हें गुजरना पड़ रहा है। उनका अन्तिम तौर पर तैह होना तो दर किनार वे लगभग भी तैह नहीं हो पाए हैं। मूल्यों का अन्तिम रूप में तैह होना कोई अप्रक्रियात्मक और ठहराव या जड़ता की स्थिति नहीं प्रत्युत वह प्रक्रिया-बिन्दु है जहां से पुनः मूल्य परीक्षण-सकेन्द्रण और स्वीकरण का चक्र गतिमान होता है। हमारे यहां और बीसियों चक्र भले ही चले हों पर यह चक्र अभी तक तो नहीं चला है। अतः महानगर संपूर्ण देश में दिशा-दर्शन और मार्ग संचालन तथा नेतृत्व देने में पूरी तरह सफल नहीं हुए हैं। यही कारण है कि ऐसे महानगरीय जीवन-बोध से अधूरी-अपूरी असंपृक्ति में सृजित साहित्य भी, संपूर्ण समकालीन हिन्दी-लेखन में कोई दिशा नहीं दे पाया है। फिलहाल उसकी यही मन्शा है। वह इस वक़्त समकालीन बिखराव-छटपटाहट और दिशाहीनता को ही कभी दर्शन कभी अर्धभोक्ता, कहीं कहीं भोक्ता की हैसीयत में सामने रखने की फिकर में है।

## और अंत में : मगर अंतिम बात नहीं :

युरोप की ज़ख्मी समकालीनता के लिए वहां का आधुनिक-बोध मरहम तो साबित हुआ है और उसकी आत्महंता बीमार मानसिकता की अकसीर दवा भी, मगर अब जबकि ज़खम भर आया है, बुखार उतर चुका है तब यह मरहम-दवा किस काम की? ऐसे प्रश्न और एतराज वहां बराबर उठे हैं और उसमें से उठी हैं कुछ बामाईना बातें-युरोप में आधुनिकता खप चुकी है, जिस आधुनिकता ने ईश्वर की मौत की बात फैलाई थी वह खुद मर चुकी है, विचार की गंभीर ज़मीन पर इन बातों ने बाकायदा जड़ें पकड़ी हैं और रूढ़ हो रही आधुनिकता की प्रतिक्रिया में नव्य आधुनिकता की चर्चा ने ज़ोर पकड़ा है। उसने अपने पारिवेशिक औचित्य भी साबित किया है।

दरअसल विंशती के पूर्वार्द्ध में वहां आधुनिकता और समकालीनता में खास गभीर तनाजा रहा है। दोनों में जगह जगह बराबर टक्कर हुई है। किसी एक स्थान पर यह फैसलाकुन लड़ाई नहीं लड़ी गई, प्रत्युत् गली गली में अपने अपने बैंकरस थे। हर मोर्चे की हार-जीत से वहां का चिंतन बूंद-बूंद बनकर फूटा है। वह किसी

एक उत्स से एक साथ बाहर नहीं आया है। आज जब वे चौकियां उठ गई हैं, सरहद्दों पर अमन है, युद्धोत्तर संत्रास का कैंआस पुर चुका है, नव-निर्माण से युद्ध-विनाश की शून्यता को भर दिया गया है तब टुकड़ों के रूप में पनपा अस्तित्ववादी चिंतन युरोप के अद्यतन परिवेश में पुराना पड़ने लगा है। उसे समकालीन संदर्भों में अपनी कैफीयत वाज़ह करनी पड़ रही है। वक्त की दरकार ने जवाब तलबी की है। इस अदालती कटघरे में एक लम्बी जिरह के दौरान उपर्युक्त चिंतन के निरुत्तर हो जाने पर नव्य आधुनिकता की चर्चा उठी हैं। जिस तत्कालीनता के विविध आयामों में युरोपीय-चिंतन खंड खंड रूपों में उभरा था उन पर लगभग एक और समसामयिकता की यवनिका पड़ चुकी हैं। युद्धोत्तर-संत्रास मात्र एक लम्बी अंधेरी सुरग से गाड़ी-यात्रा के दौरान गुजरने का संस्मरण बन कर रह गया है। पर आधुनिकता की मौत की घोषणा महज़ एक अफवाह ही है। हकीकत यह है कि युरोप में आधुनिक-बोध की रूढ़ियां अवश्य ही दुबक कर बैठ गई हैं और लगभग "असूर्यमपश्य" की स्थिति में अपने दिन बसर कर रही हैं। वहाँ जीवन को जो नया रचनात्मक मुहावरा मिला है उसके सामने आधुनिक-बोध के रूढ़ तेवर झूठे पड़ने लगे हैं। ऐसे में "नव्य-आधुनिकता" अपनी समकालीनता के आयामों में नए तेवर सहित न केवल चर्चित हो रही है प्रत्युत जीवन के नार्मल-एटीट्यूड्स के रूप में स्वीकृत भी हो रही हैं।

युरोप में आधुनिकता की एक और प्रक्रियात्मक स्थिति भी रही है। वहां विचारों के वंश का अश्वत्थ-विस्तार होता रहा है। जन मानस की ज़मीन में बहुत गहरे, उसकी जड़ें बराबर फैलती रही हैं, बाहर भी उसकी शाखाएं-प्रशाखाएं, तने-प्रतने इस कदर फैले हैं कि उसके मूल-स्कंध की शिनाखत मुश्किल हो गई है। सोरोकिन ने इस मसले पर निहायत संजीदगी से विचार किया है। दिक्कत इस लिए भी पेश आई है कि खंड खंड रूप में उभरी आधुनिकता के अपने स्थानीय और जातीय संस्कार रहे हैं। उनकी तत्कालीनता की कुल-गोत्रता रही है। जब उनके आधार पर एक समग्र दर्शन प्रस्तुत करने की बात उठी तो उसका नाभिक-केन्द्र निश्चित करना मुश्किल हो गया। उसमें विरोध और विरोधाभास दोनों थे। समस्या तब और भी पेचीदा हो गई जब विश्लेषण के दौरान विरोधों को विरोधाभास और विरोधाभासों को वास्तविक विरोध समझ लिया गया। ज़रब-तक़सीम की इस प्रारंभिक भूल के कारण जो जवाब हाथ लगे वे सही से बहुत दूर थे। इसलिए विपरीत-ध्रुवीय आधुनिक चिंतन के मध्यवर्ती अंतराल को भरना और लाँघना दुश्वार हो गया है। और युरोप अपनी आधुनिकता का जातीय स्वरूप तैह करने में लगभग असफल रहा है। जातीय संस्कारों के बावजूद भी जातीय-चरित्र न उभर पाना उसके पक्ष में नहीं जाता है। खासकर तब जब वह दूसरों के इहातों में पांव जमाने के फिराक़ में है।

मगर भारतीय जीवन और चिंतन के मुख़्तलिफ़ हलकों में युरोपीय चिंतन ने खुद इतना खड़ा होने की कोशिश नहीं की है जितनी कि इसे खड़ा करने में यहां के कुछ अतिरिक्त-प्रबुद्ध तबक़े ने की है। यहां के जागरूक चिंतन ने युरोप की बासी आधुनिकता को भारतीय संदर्भों में सेंध लगाने की या घुसपैठ करने की इजाज़त नहीं दी है, यह चिंतन आधुनिकता-विरोधी नहीं, बल्कि इस बात का पक्षधर है कि भारत को अपनी समकालीनता के संदर्भ में ही अपनी आधुनिकता निर्मित करनी है। युरोप के ऐतिहासिक दौरों से जन्मी वहां की अनेक प्रकार की खप चुकी समकालीनता से जुड़ी आधुनिकता, भारतीय ऐतिहासिक परिवेश से अपना तालमेल कैसे बिठा पाएगी? यहाँ की समकालीनता से अपनी संगति कैसे जोड़ पाएगी? यहां युरोपीय संक्रमण

1–Social Philosophies of an Age of crisis.

की परिणतियां भारतीय संक्रमण में कैसे बैठ पाएंगी ?

भारतीय जीवन में और परिवार में टूटन, अलगाव, विच्छेदन की युरोपीय दरारें नहीं पड़ी हैं। यहां का आम आदमी अभी वैसे संत्रास, विघटन, उबकाई, नौसिया को अपने में अनुभव नहीं करता है। यहां पर वैसा निषेध नहींत्व, अस्वीकार नहीं पनपा है। यहां अभी न तो ईश्वर मरा ही है, और न उसे मारने के लिए किसी का कोई इरादा है। न इस पुण्य कार्य के लिए कोई आमादा ही है। जीवन के प्रति यहां के औसत आदमी का आत्महंता नज़रिया भी नहीं है। जीवन न तो यहां पर दण्ड है और न विसंगतियों का ढेर ही। यहां न तो अमानवीकरण का वैसा यांत्रिक दौर आया है और न यहां के महानगरों में संवेदना की मछलियाँ ही मरी हैं। महानगरीकरण के बावजूद भी यहां दिल्ली का अपना मिज़ाज है और लखनऊ की अपनी तबीयत है। अवध की पुरफिज़ा दिलकश शामों की इतर-गंध अब भी यहां के जनमानस पर है। इन महानगरों का साधारण जन भले ही वहां के विलास में शरीक न हो पाया हो, मगर उसके खून में वे ज़रासीम जज़ब हो चुके हैं। यहा के संस्कारों की जड़ें मध्ययुगीन ज़मीन में फैली हैं और वहां से जीवन रस लेती आ रही हैं। ऐसी स्थिति में युरोपीय चिंतन की परिणतियां भारतीय जीवन में न तो तुरंत स्वीकृत हो सकती हैं और न अपने समग्र रूप में ही सही तसलीम की जा सकती हैं। विदेशी अदालतों की लम्बी बहसों से हासिल फैसलों को यहां की घरेलू पंचायतों में रायज करना परले दर्जे की हिमाक़त से कम नहीं होगा। यहां यह कहना मुनासिब ही होगा कि समकालीन हिन्दी-लेखन में ऐसी हिमाक़त काफी मिक़दार में हुई है। और उसकी भदेस भी हुई है।

भारतीय-आधुनिकता यहां की ज़मीन से उठी है और अपने पाँओं चलकर इधर-उधर फैली है। युरोपीय चिंतन के जो बीज यहां की समकालीनता की मारफत यहां आए हैं यहां की धरती के गर्भ से फूटे हैं, वे यहां के समकालीन जीवन और चिंतन में बाकायदा टिके हैं और खड़े हुए हैं। यहाँ भी मोह-भंग हुआ है। स्वप्न टूटे हैं। आम आदमी छला गया है। समकालीन युद्ध में वह अकेला पड़ा है, पराजित होकर टूटा और बिखरा है। उसका अपना दर्द है, यंत्रणा-शिविर है, संत्रास का साइबेरिया है। अलगाव, विच्छेद, निर्यातन का कालापानी है। विकल्पहीनता, संदर्भ-विच्युति के लम्बे हिमपात भरे अंधेरे ध्रुवांत हैं जड़-रूढ़ परंपराओं, विश्वासों, मान्यताओं के जलते रेगिस्तान हैं, अपने सलीब भी हैं और इज़राइल की ग़ैरहमवार गलियां भी हैं, अपनी पेशानी पर आक्रोश, अस्वीकार, और विद्रोह के तेवर भी हैं—और है यहां के परिवेश में ही अमानवीकरण से गंदे हो रहे इन्सानी गोश्त की बदबू, संवेदना की मरी जा रही मछलियों की सड़ांध, कुंठाओं की कंदराएं, ग्रंथियों के जाले, हीन भावनाओं के गह्वर।

भारतीय समकालीनता का अपना ऐतिहासिक परिवेश है जिसमें बेशुमार संक्रमणों का विष है, विश्व-चिंतन के संदर्भ में अपने तईं सप्रश्न और ख़बरदार होने का एहसास भी हैं। यहीं से समकालीन जीवन में महाज़ खुलते हैं और समकालीन व्यक्ति अपने ही अतीत, वर्तमान से हुई पहली मुठभेड़ में आधुनिक होने की प्रक्रिया में पड़ जाता है जैसे जैसे मोर्चे गर्म होते जाते हैं और वह स्वयं को और मुस्तैदी से ताइनात करता है, वैसे वैसे वह आधुनिक बनता जाता है। आधुनिकता की प्रक्रिया गतिमान होती जाती है और उसकी विविध परिणतियां आधुनिक बोध को जन्माती जाती हैं।

— पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला.

# शोधप्रबन्ध का प्रस्तुतीकरण-तंत्र

डॉ० शिवप्रसाद गोयल

शोधकार्य सम्पन्न हो जाने के बाद टंकण से पूर्व और पश्चात् पाण्डुलिपि की जांच-पड़ताल करनी आवश्यक होती है जिससे शोधप्रबन्ध को स्वीकृत प्रतिमानों के अनुरूप ढाला जा सके। यहाँ हम उन महत्वपूर्ण बातों पर विचार करेंगे जिन पर शोधप्रबन्ध प्रस्तुत करने से पूर्व ध्यान देना आवश्यक है।

## १—शोध-सामग्री के अनुभागों की व्यवस्था

### (क) शीर्षक-उपशीर्षक

अध्यायों के शीर्षक दो रेखाओं से रेखांकित करके नये पृष्ठ के ऊपर मध्य-भाग में दो या ढाई इंच का हाशिया छोड़ कर टंकित किये जायें, इसका संकेत पाण्डुलिपि में कर देना चाहिए। अध्याय-शीर्षक के ऊपर या बराबर में अध्याय की क्रम-संख्या का संकेत आवश्यक है। इसकी तीन विधियां हैं :—

(१) प्रथम विधि...... द्वितीय अध्याय

खण्डकाव्य का स्वरूप एवं वर्गीकरण

(२) द्वितीय विधि...... : २ :

खण्डकाव्य का स्वरूप एवं वर्गीकरण

(३) तृतीय विधि... २. खण्डकाव्य का स्वरूप एवं वर्गीकरण

इन तीनों में से किसी भी विधि को अपनाया जा सकता है। सौंदर्य के विचार से हमें दूसरी विधि अधिक सुग्राह्य लगती है।

प्रकरण-शीर्षक यथास्थान पृष्ठ के मध्य-भाग में या बाईं ओर एक रेखा से रेखांकित करके प्रस्तुत करना उचित है। प्रकरणों के उपशीर्षकों को पृष्ठ के बाईं ओर रेखांकित किये बिना प्रस्तुत करना चाहिए।

अध्याय के अन्त में अध्याय-समाप्ति की सूचना मिल जानी चाहिए जो लिखित (या बाद में टंकित) सामग्री के बाद स्थान छोड़ कर पड़ी रेखा (—) अथवा तारक चिन्ह (★) द्वारा दी जा सकती है।

### (ख) अनुच्छेद

रूप-रग और और महत्व की दृष्टि से अनुच्छेद बहुत छोटे या बहुत बड़े नहीं होने चाहिएँ तथापि सब अनुच्छेद समान आकार के भी न हों। विषय के सापेक्षिक महत्व की दृष्टि से उनका विषम आकार सुन्दर और प्रभावशाली लगता है।

### (ग) संकेताक्षर

श्रम, समय और स्थान की बचत के लिए व्यक्तियों, संस्थाओं, प्रकाशनों, संदर्भ-ग्रंथों तथा अन्य बड़े नामों को प्रबन्ध या पाद-टिप्पणी में प्रथम बार पूरा देकर शेष प्रबन्ध में यथाअवसर प्रचलित संकेताक्षरों का प्रयोग करें। संकेताक्षर स्वनिर्मित भी हो सकते है। किन्तु सारे प्रबन्ध में संकेताक्षरों में एकरूपता का होना आवश्यक है। समस्त प्रबन्ध में प्रयुक्त संकेताक्षरों की एक सूची प्राक्कथन के बाद तथा प्रबन्ध की विषय-सूची से पूर्व प्रस्तुत करनी आवश्यक है।

### (घ) उद्धरण

सामान्यतः सब उद्धरण, शब्दावली, वर्तनी और

विराम चिन्हों की दृष्टि से मूल के अनुरूप उद्धरण–चिन्हों के भीतर प्रस्तुत करने चाहिएँ । उद्धरण में पद–लोप या अध्याहार होने पर एक अक्षर का स्थान खाली छोड़ कर तीन बिन्दुओं (...) का प्रयोग करें। वाक्य के अन्त में यदि पद–लोप हो तो अन्त में पूर्ण विराम लगा कर तीन बिन्दु (...) लगायें। यदि पद–लोप महत्त्वपूर्ण हो तो पूरी पंक्ति बिंदु लगा कर छोड़ दें जिससे पद–लोप की सूचना मिल सके।

## (ङ) क्षेपक

उद्धरण के बीच में उसकी व्याख्या करने के लिए या अपनी टिप्पणी देने के लिए आप अपना मत (क्षेपक) भी दे सकते हैं, किन्तु उसे चौकोर कोष्ठक में रखना चाहिए। टकरण में प्राय: चौकोर कोष्ठक [ ] नहीं होता, अत: टंकरण के कोष्ठक को हाथ से सुधार कर चौकोर बना देने का ध्यान रखें ।

## (च) उद्धरण चिन्ह

जब तक असाधारण बल न देना हो, कविता की एक पंक्ति या उसके अंश को उद्धरण–चिन्हों में मूल प्रबन्ध के अंश के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। दो तीन पंक्तियों को उद्धरण चिन्हों में प्रस्तुत करते समय प्रत्येक पंक्ति के बाद चिन्ह लगा देना चाहिए, जैसे......"किन्तु शत्रु को तुच्छ समझकर अपने मन में,/असावधान हे वत्स ! कभी मत रहना रण में/लघु से लघुतम शत्रु को तुच्छ समझना भूल है।"

यदि कवितांश का उद्धरण मूल प्रबन्ध का अंश बना कर प्रस्तुत न किया जाय तो उद्धरण को मूल प्रबन्ध के सन्दर्भ से कोलन–चिन्ह ( : ) तथा बिना उद्धरण–चिन्हों के दोहरे स्थानांतरण से टंकित करने का संकेत पाण्डुलिपि में होना चाहिए। यदि मूल उद्धरण में ही उद्धरण–चिन्ह हों तो उन्हे यथावृत रखना चाहिए।

गद्य के एक सौ शब्दों तक के उद्धरण यथासंभव मूल प्रबन्ध के अंश के रूप में उद्धरण–चिन्हों के अन्तर्गत प्रस्तुत किये जाने चाहिएँ। यदि उद्धरण के अन्तर्गत कोई उद्धरण आवे तो उसे एक उल्टे कामे में रखना चाहिए। एक सौ शब्दों से अधिक के गद्य के उद्धरण को मूल प्रबन्ध से अलग करके बिना उद्धरण-चिन्हों के अगली पंक्ति से प्रस्तुत करना चाहिए। किन्तु प्रकाशन के समय ऐसे उद्धरण छोटे टाइप में छप सकें, इसके संकेत के लिए टंकित प्रबन्ध में उद्धरण के बाईं ओर एक हल्की खड़ी रेखा खींच देनी चाहिए। उद्धरण आरम्भ होने से पूर्व मूल प्रबन्ध के वाक्य के अन्त में कोलन ( : ) लगा देना चाहिए।

कविताओं, कहानियों, निबन्धों या लेखों के शीर्षकों तथा पुस्तक अथवा लघु प्रबन्ध के अध्यायों या प्रकरणों के शीर्षकों को उद्धरण-चिन्हों में प्रस्तुत करें। प्रकाशित पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं आदि के नामों को रेखांकित करें।

# २ संख्यांक

## (क) सामान्य

शोध–प्रबन्ध के बीच में तीन अंकों तक की संख्या को प्राय: शब्दों में लिखना चाहिए और उससे बड़ी संख्या को अंकों में, किन्तु पाद-टिप्पणियों में छोटी और बड़ी सब संख्याएं अंकों में ही लिखी जाती हैं। तारीखें तथा पृष्ठ संख्या शब्दों में कभी नहीं लिखी जातीं। "प्रथम जनवरी" और "द्वितीय पृष्ठ" के स्थान पर "१ जनवरी" और "पृष्ठ २" लिखना अधिक प्रचलित और ग्राह्य है। किन्तु वाक्य के प्रारम्भ में संख्या या तारीख को शब्दों में ही लिखना उचित है ।

## (ख) तिथियां

तिथियां लिखने की प्राय: दो विधियां प्रचलित हैं,... (१)" ६ जनवरी १९६८" अथवा जनवरी ६, १९६८"।

इन दोनों विधियों में से किसी भी विधि को अपनाया जा सकता है, किन्तु सारे प्रबन्ध में इस दृष्टि से एकरूपता बनाए रखना आवश्यक है। जब एक से अधिक वर्षों का संकेत आवश्यक हो, तब इस प्रकार लिखें . "१९६८–६९ में" या "१९६८ से१९६९ तक, न कि" १९६८–६९ से। शोध प्रबन्ध के मध्य में यदि शताब्दियों का संकेत हो तो उन्हें शब्दों में लिखे, जैसे " बीसवीं शताब्दी"।

## (ग) संयुक्त संख्या

तीन अंकों तक की क्रमिक संख्याओं को, जिनके बीच में अन्तराल न हो जोड़ने के लिये दोनों संख्याएँ अंकों में पूरी लिखें, जैसे . ..."१९७–१९८"। जहाँ संख्याएँ बड़ी हों वहाँ पहली संख्या अंकों में पूरी लिखें, फिर एक पड़ी रेखा लगा कर, यदि दूसरी संख्या का शततमिक अंक समान हो तो, दूसरी संख्या के अंतिम दो अंक लिखें, जैसे "१६०८–७५"। यदि शततमिक अंक भिन्न हो तो दूसरी संख्या के अंतिम तीन अंक दें, जैसे–"१५१४१–२५५" आदि ।

## (घ) रोमन संख्यांक

रोमन सख्यांक का प्रयोग करते समय ग्रंथ-संख्या, जिल्द (वाल्यूम) संख्या, नाटकांक, भाग–अनुभाग-संख्या तो बड़े अक्षरों में लिखें तथा अध्याय संख्या, उपोद्घात या भूमिका पृष्ठों की संख्या, नाटकीय दृश्यों और काव्य के सर्गों की संख्या छोटे अक्षरों में ।

## ३ व्यक्तियों के नाम

शोधप्रबन्ध में उल्लिखित व्यक्तियों या विद्वानों के नामों से पहले आदरसूचक शब्द अथवा उपाधि (जैसे-श्री, प्रोफ़ैसर, डा०) लिखना आवश्यक नहीं है । किन्तु जहाँ आप किसी विद्वान् के मत का खण्डन कर रहे हों, कोई आक्षेप कर रहे हों, व्यक्तिगत टीका-टिप्पणी कर रहे हों, अथवा सहायता के लिए आभार-प्रदर्शन कर रहे हैं, वहाँ सम्बन्धित विद्वान् के नाम के पूर्व उनकी औपचारिक उपाधि (डा०, प्रोफ़ैसर आदि) का प्रयोग अवश्य करें । कवियों, नाटककारों, कहानीकारों, उपन्यासकारों आदि रचनात्मक साहित्य-रचयिताओं के नाम के पूर्व 'श्री' 'श्रीमती' आदि लिखने का प्रचलन नहीं है किन्तु शोध-क्षेत्र के विद्वानों के नामों के आगे हिन्दी शोध-प्रबन्धों में 'डॉ०' शब्द का प्रयोग प्रायः मिलता है । विदेशी विद्वानों के नाम उनके ग्रंथों में जिस प्रकार दिये गये हों, उसी प्रकार लिखे जाने चाहिएँ ।

## ४ पाद टिप्पणियां

## (क) प्रलेख–पोषण

प्रलेख–पोषण या संदर्भ–सकेत शोधप्रबन्ध के पाठक को उसके मूल स्रोतो से सरलतापूर्वक परिचित करा देता है । संदर्भ का सम्बन्ध एक ओर तो उपस्कर संदर्भ–ग्रथों से लिए गए उद्धरणों से होता है और दूसरी ओर उपजीव्य ग्रंथों से लिए गए उदाहरणों से । उपस्कर संदर्भ–ग्रंथों का संदर्भ देते समय सर्वप्रथम ग्रंथकार का नाम, फिर ग्रंथ नाम, फिर कोष्ठक में संस्करण–संख्या या वर्ण और अन्त में पृष्ठ संख्या दी जानी चाहिए, जैसे" डा० संसार चन्द्र : हिन्दी काव्य में अन्योक्ति (प्रथम संस्करण), पृष्ठ २७५"। ग्रंथ का नाम पहले देकर फिर लेखक का नाम और फिर पृष्ठ संख्या देना उचित नहीं। है क्योंकि पृष्ठ–संख्या का सम्बन्ध ग्रंथ से है, ग्रंथकार से नहीं। यदि दूसरा क्रम ही रखना हो तो ग्रंथकार का नाम कोष्ठक में देना चाहिए, जैसे——" जयशंकर प्रसाद : वस्तु और शिल्प (डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल), पृष्ठ ३७०"। ग्रथ का संस्करण प्रलेख–पोषण के साथ भी दिया जा सकता है और ग्रंथ के एक ही संस्करण से सर्वत्र उद्धरण दिये गये हों, तो अंत में ग्रंथ सूची में भी दिया जा सकता है ।

प्रसिद्ध काव्य ग्रंथों तथा अन्य कृतियों का प्रलेख पोषण, केवल ग्रंथ का नाम और पृष्ठ-सख्या मात्र देकर किया जा सकता है। किन्तु, यदि ग्रंथ के अनेक संस्करण हों अथवा एक ही ग्रंथ अनेक व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग सम्पादित किया गया हो तो क्रमश: सस्करण तथा सम्पादक का उल्लेख करना आवश्यक होगा, जैसे——"सुदामा चरित्र (स० ललितप्रसाद सुकुल, षष्ठ संस्रण), पृष्ठ २६"।

किसी संकलन से किसी लेख के उद्धरण का संदर्भ देते समय सम्पादक का नाम, ग्रंथ का नाम, लेख का नाम, कोष्ठक में लेखक का नाम और फिर पृष्ठ संख्या देनी चाहिए। यदि संकलन सम्पादित न हो कर एक ही लेखक के लेखों का संग्रह है तो लेखक का नाम, ग्रंथ का नाम, लेख का नाम (रेखांकित करके) और फिर पृष्ठ-संख्या देनी चाहिए ।

यदि किसी पत्रिका का प्रलेख-पोषण करना हो तो क्रमश: लेख का नाम, कोष्ठक में लेखक का नाम, पत्रिका का नाम, कोष्ठक में सम्पादक का नाम, वर्ष, और पृष्ठ संख्या का निर्देश पर्याप्त है, जैसे—"नई समीक्षा (पी० एस० शास्त्री), समन्विति (सं० महेन्द्र चतुर्वेदी), वर्ष १, अंक १, पृष्ठ सख्या २३"। किसी दैनिक या साप्ताहिक पत्र का संदर्भ देना हो तो लेख और लेखक के नाम के बाद पत्र का नाम; कोष्ठक में प्रकाशन तिथि, मास और वर्ष; पृष्ठ संख्या तथा कालम संख्या देनी चाहिए ।

पांडुलिपियों, विशेषत: प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों का संदर्भ देते समय पर्याप्त सावधानी अपेक्षित है। इनके सम्बन्ध में मूल लेखक का नाम, कोष्ठक मे लिपिकार का नाम, पृष्ठ संख्या (यदि हो), अध्याय संख्या या नाम (जो भी हो) तथा छंद-संख्या या पक्ति-संख्या देनी चाहिए। यदि एक ही लिपिकार की अनेक प्रतियां मिलें तो 'क', 'ख', 'ग', प्रति आदि सुविधा को दृष्टि से पृष्ठ-संख्या से पूर्व लिख देनी चाहिए। इसकी आवश्यकता विशेषताया पाठानुसंधान में पड़ती है ।

## (ख) विविध

मूल प्रबन्ध में प्रस्तुत उद्धरण की टीका-टिप्पणी यदि अत्यावश्यक हो तो, पाद-टिप्पणी में की जा सकती है। कहावतों, लोकोक्तियों तथा प्रसिद्ध कथनों (जैसे .."और सब गढ़िया नददास जड़िया") के संदर्भ-संकेत की आवश्यकता नहीं है। मूल प्रबन्ध में उल्लिखित बातों की पुनरावृत्ति पाद-टिप्पणी में नहीं की जानी चाहिए। एक ही अनुच्छेद में ग्रंथ से यदि कई उद्धरण दिये जायें तो उन्हें एक ही पाद-टिप्पणी में समाहित करके प्रलेख-पोषण किया जा सकता हैं।

पूर्व-संदर्भित पुस्तक और लेखक के नाम का यदि पाद-टिप्पणी में पुनर्उल्लेख करना हो तो उसके स्थान पर 'वही' का प्रयोग किया जाता है जो अंग्रेजी के 'ibidem' या 'ibid' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है, जिसका अर्थ होता है...वही पुस्तक, वही पृष्ठ। उदाहरण के लिए यदि कवितावली का क्रमिक रूप से तीन बार संदर्भ देना हो तो इस प्रकार लिखेंगे ....

कवितावली, पृष्ठ ६

वही, पृष्ठ १८

वही, पृष्ठ २७

## (ग) पाद-टिप्पणी संख्या

मूल प्रबन्ध उद्धरण-चिन्ह और उसके बाद विराम-चिन्ह के उपरान्त (यदि हो) पंक्ति से कुछ ऊपर क्रमिक रूप से संख्यांक १ से आरम्भ करें और प्रत्येक उद्धरण या संदर्भ का प्रलेख-पोषण उसी संख्या के अन्तर्गत

पृष्ठ के नीचे रेखांकन के बाद क्रमिक रूप से दें। पाद–टिप्पणी देने की दो और विधियाँ भी प्रचलित हैं। एक विधि तो यह है कि मूल प्रबन्ध के प्रत्येक अध्याय में उद्धरण या अन्य संदर्भ, संख्या १ से आरम्भ हो कर क्रमशः अध्याय के अन्त तक चलते हैं और सारी पाद–टिप्पणियां उसी क्रम से प्रत्येक अध्याय के अन्त में दो तीन पृष्ठों में दे दी जाती हैं। पाद–टिप्पणियाँ समाप्त हो जाने पर नया अध्याय आरम्भ होता है। दूसरी विधि, में, इसी प्रकार पाद–टिप्पणियाँ, जिनकी संख्या हजारों तक पहुँच जाती है, पूरे शोध–प्रबन्ध के अंत में सब अध्यायों के बाद में दी जाती हैं। मेरी दृष्टि में ग्रंथ के अंत में, या अध्याय के अन्त में भी, पाद–टिप्पणियों को खोजना पाठक के लिए दूभर हो जाता है और उनकी सार्थकता नष्ट हो जाती है। अतः अच्छा यही है कि प्रत्येक पृष्ठ पर आये संदर्भों, उद्धरणों का प्रलेख–पोषण उसी पृष्ठ पर नीचे हो जाये।

उद्धरणों पर संदर्भों के प्रलेख–पोषण को संकेतित करने के लिए केवल अंकों से काम लेना उचित है... तारक–चिन्ह से या किसी ऐसे अन्य चिन्ह से नहीं। मूल प्रबंध में प्रलेखपोषणांक संदर्भ–ग्रंथ के लेखक के नाम के आगे न देकर उद्धरण या सदर्भ की समाप्ति पर दें। पृष्ठ के नीचे उसी अंक को बिना किसी चिन्ह के लिख कर एक अक्षर स्थान खाली छोड़ कर प्रलेख–पोषण की भली प्रकार जाँच कर लेनी आवश्यक है ताकि संदर्भ–क्रम में कोई गड़बड़ न हो।

## ५ व्यवस्था–क्रम

परीक्षार्थ प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के तीन भाग होते हैं... पूर्व पीठिका, मूल प्रबन्ध तथा परिशिष्ट। पूर्वपीठिका में विषय और शोधार्थी का नाम, प्राक्कथन, संकेताक्षर और विषय-सूची का परिगणन होता है। इसके बाद मूल प्रबन्ध के विविध अध्याय होते है और अन्त में परिशिष्ट में संदर्भ–ग्रंथ–सूची, नामानुक्रमणिका, तथा वे सब चीजें आ जाती हैं जो शोधप्रबन्ध में कहीं स्थान न पा सकीं तथा जिन्हें शोधार्थी महत्वपूर्ण समझता है। अब हम इनका सक्षेप में विवेचन करेंगे :—

### (क) विषय और शोधार्थी का नाम

शोधप्रबन्ध के पृष्ठ पर सब से ऊपर शोध प्रबन्ध का विषय ठीक उस रूप में लिखा होना चाहिए जिस रूप में वह विश्वविद्यालय से स्वीकृत हुआ हो। नीचे दाहिनी ओर शोधार्थी का नाम होना चाहिए। कुछ शोधार्थी नाम के नीचे अपना पता भी दे देते है।

पर्यवेक्षक या शोध–निर्देशक का नाम देना यद्यपि आवश्यक नहीं है तथापि कुछ शोधार्थी इसी पृष्ठ पर पर्यवेक्षक का नाम और पद आदि भी दे देते हैं। हां कुछ विश्वविद्यालयों के नियमानुसार निरीक्षक का नाम देना अनिवार्य है।

### (ख) प्राक्कथन

प्राक्कथन में प्रबन्ध-लेखक अपने शोध-विषय के महत्व, विषय–परिधि, प्रबन्ध की कठिनाइयों, विषय से सम्बन्धित पूर्ववर्ती अध्ययन और उनकी उपलब्धियों-सीमाओं आदि का आकलन क ता हुआ अपने शोध-प्रबन्ध की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करता है और उसकी मौलिकताओं पर प्रकाश डालता है। यहीं परिशिष्ट में प्रस्तुत सामग्री की ओर संकेत करके टंकण की कमियों-विवशताओं आदि पर प्रकाश डालता है। अंत में उन संस्थाओं, व्यक्तियों, संग्रहालयों, पुस्तकालयाध्यक्षों आदि के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन किया जाता है जिनसे प्रबन्ध-लेखन में कोई सहायता मिली है।

कुछ विद्वान् प्राक्कथन में प्रस्तुत अधिकांश सामग्री को मूल प्रबंध का ही अंग बनाने के पक्ष मे हैं। वे विषय प्रवेश नामक प्रथम अध्याय में सामग्री का समाहार करने

को कहते है। किन्तु हमारी दृष्टि में प्राक्कथन को मूल विषय का अंग बना लेना उपयुक्त नहीं है। इस सम्बन्ध में व्यक्तिगत रुचि ही निर्णायक हो सकती ।

## (ग) संकेताक्षर–सूची

प्राक्कथन के उपरान्त प्रबन्ध में यत्र-तत्र प्रयुक्त संकेताक्षरों की वर्णानुक्रम से सूची प्रस्तुत करनी चाहिए। प्रबन्धों में यह सूची परिशिष्ट में भी दी जाती है, किन्तु इसे प्राक्कथन के उपरान्त देना ही समीचीन है जिससे पाठक प्रबन्ध पढ़ने से पूर्व ही उसमें प्रयुक्त संकेताक्षरों से परिचित हो सकें ।

## (घ) विषयसूची या विषयानुक्रमणिका

इसमें शोध-प्रबन्ध के अध्यायों और उनके अन्तर्वर्ती प्रकरणों का अनुक्रम और उनसे सम्बन्धित पृष्ठ-संख्या दी जाती है। परिशिष्ट और उनके अन्तर्वर्ती विषयों संदर्भ-ग्रंथ सूची, उपजीव्य-ग्रंथ-सूची, ग्रंथों का कालक्रम, विद्वानों के पत्र आदि...तथा उनकी पृष्ठ संख्या भी विषय-सूची में आती है।

## (ङ) मूल प्रबन्ध

विषय-सूची के बाद प्रबन्ध के विविध अध्याय और उनके अन्तर्वर्ती प्रकरणों की क्रमश: योजना दी जाती है।

## (च) परिशिष्ट और ग्रंथ–सूची

परिशिष्ट प्रबन्ध के सम्बन्ध में अतिरिक्त सूचना देने और उसके सौंदर्य की सुरक्षा में सहायक होते हैं। मूल प्रबन्ध में जो बातें व्याख्या या सदर्भ की अपेक्षा रखती हैं किन्तु शिथिलता या अतिव्याप्ति दोष से बचने के लिए जिनकी योजना नहीं की जा सकती, उन्हें परिशिष्ट में देकर उस अभाव की पूर्ति की जाती है ।

विद्वानों से हुए पत्र–व्यवहार आदि को भी, जिससे विषय स्पष्ट होता हो, परिशिष्ट में प्रस्तुत किया जाता है।

प्रबंन्ध लेखक ने अपने प्रबन्ध–लेखन में जिन ग्रंथों, पांडुलिपियों, पत्र–पत्रिकाओं, रिपोर्टों आदि से सहायता ली है, उनकी अलग–अलग वर्गों में सूची भी परिशिष्ट में दी जाती है ।

ग्रंथ–सूची के भी दो वर्ग किये जा सकते हैं :— (क) उपजीव्य ग्रंथ और (ख) उपस्करग्रंथ। पहले वर्ग में वे ग्रंथ आयेंगे जो विवेच्य हैं । उदाहरण के लिए, यदि शोध–विषय है 'प्रसाद के काव्य में प्रेम और सौंदर्य', तो जयशंकर प्रसाद के काव्य–ग्रंथ .....आपके मूल विवेच्य ग्रंथ होंगे और 'उपजीव्य ग्रंथों' की सूची में आयेंगे। इनके अध्ययन में सहायक अन्य ग्रन्थ, जैसे .. .. जयशंकर प्रसाद: वस्तु और शिल्प, कामायनी अनुशीलन, आधुनिक काव्यधारी, कामायनी सौंदर्य आदि ग्रंथ–भाषा क्रम से एक साथ प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

प्रबन्ध लेखन में मुद्रित ग्रन्थों के अतिरिक्त पाण्डुलिपियों तथा मुद्रित भाषणों, पत्र–पत्रिकाओं, (रिपोर्टों), भूगोल–कोषों (गजेटियरों) आदि से भी सहायता ली जाती है। इनमें पांडुलिपियों का एक वर्ग तथा शेष का 'पत्र-पत्रिकाएँ' शीर्षक से दूसरा वर्ग किया जा सकता है। ये सब 'उपस्कर ग्रंथों' की श्रेणी में आयेंगे और इनके वर्गों को अलग-अलग क, ख, ग आदि वर्गों से सूचित किया जा सकता है, जैसे ..परिशिष्ट–२

(१) उपजीव्य ग्रंथ सूची

(२) उपस्कर ग्रंथ-सूची

- (क) हिन्दी
- (ख) संस्कृत
- (ग) अंग्रेजी
- (घ) पांडुलिपियाँ
- (ङ) पत्र-पत्रिकाएँ

ग्रंथ–सूची में ग्रंथ का नाम, संस्करण, लेखक का नाम तथा प्रकाशक का नाम और पता होना चाहिए। पांडुलिपियों में ग्रंथ-संख्या (यदि सम्बन्धित संग्रहालय ने कोई ग्रंथ-संख्या दी हो), लेखक का नाम और उपलब्धि–स्थान की सूचना दी जानी चाहिए। पत्र–पत्रिकाओं में, उनका नाम, आवर्तिता (Periodicity) प्रकाशन–वर्ष और अंक (या प्रकाशन–तिथि) और प्रकाशन–स्थान का उल्लेख आवश्यक है।

## ६ टंकण

### (क) कागज

शुद्ध व कलापूर्ण टंकण से प्रबन्ध के रूप में निखार आ जाता है। अत: टंकण–कार्य कुशल टंकणकर्ता (टाइपिस्ट) से ही कराना चाहिए। शोधप्रबंध के लिए १८×२२" आकार का २० पौंड वज़न का 'बौंड पेपर' लीजिए और उसे ९"×११" आकार में कटवा लीजिए। इस आकार में कटा-कटाया कागज़ भी बाजार में मिल जाता है। प्रबन्ध की जितनी प्रतियाँ विश्वविद्यालय में परीक्षार्थ प्रस्तुत करनी हों उससे एक प्रति अधिक टंकित करने का आदेश दें।

### (ख) हाशिया :

ऊपर-नीचे एक-एक इंच, बाईं ओर ढाई इंच तथा दाहिनी ओर आधा इंच का हाशिया छोड़ कर समस्त सामग्री को (पाद-टिप्पणी और उद्धरणों सहित) उपर्युक्त व्यवस्थाक्रम के साथ दुहरे अन्तरालन (double spacing) से टंकित कराएं। प्रत्येक अध्याय का टंकण नये पृष्ठ से आरम्भ करें तथा प्रत्येक अध्याय के शीर्षक के ऊपर २" या २½" का हाशिया छुड़वायें।

### (ग) टाइप, रिबन, कार्बन

टंकण–मशीन का टाइप साफ कर लेने और नई 'रिबन' का प्रयोग करने से प्रतियाँ स्पष्ट और सुवाच्य प्राप्त होंगी। उत्तम कोटि कार्बन पेपर का प्रयोग करें एक कार्बन का प्रयोग तीन बार से अधिक न करें।

### (घ) टंकण में अपेक्षित सावधानी

पाद–टिप्पणी के, यदि वह प्रत्येक पृष्ठ पर दी जाय, टंकण में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रत्येक पृष्ठ का प्रलेख-पोषण उसी पृष्ठ पर आ जाय तथा कोई पाद-टिप्पणी टंकित होने से रह न जाय। दूसरे, किसी भी पृष्ठ पर प्रलेख-पोषन में सर्वप्रथम 'वही' का प्रयोग न हो। यदि कहीं पांडुलिपि से टंकण करते समय ऐसी स्थिति आ जाय तो पूर्व टंकित पृष्ठ के अंतिम प्रलेख-पोषण को पृष्ठ-संख्या छोड़ कर पूर्ण रूप में यथावत् टंकित करके सम्बन्धित पृष्ठ-संख्या बदल देनी चाहिए। तीसरे, पाद-टिप्पणियों को दुहरे अन्तरालन के साथ टंकित कराना सुविधाजनक रहता है। चौथे, टंकण में अधिक काट-पीट, रबड़ का प्रयोग तथा अशुद्धियां नहीं होनी चाहिएँ।

## ७ पृष्ठांकन

यदि टंकण के साथ-साथ समस्त सामग्री में क्रमश: पृष्ठसंख्या टंकित न की गई हो तो समस्त सामग्री को सुव्यवस्थित करके ऊपर दाहिने कोने या केन्द्र में प्रत्येक पृष्ठ पर संख्या–मशीन द्वारा पृष्ठ–संख्या अंकित करा लेनी चाहिए। यदि किसी पृष्ठ पर पृष्ठ–संख्या अशुद्ध अंकित हो गई हो, जैसे '५०' के बाद पृष्ठ संख्या '५५' हुई हो, वहाँ उसे '५१–५५' कर दें। इसके विपरीत यदि दो पृष्ठों पर समान संख्या अंकित हो तो बाद वाले पृष्ठ पर संख्या के बाद 'अ' और बढ़ा दें जैसे यदि दो पृष्ठ–संख्या '५०' अंकित हो गई हो तो बाद वाले पृष्ठ पर

संख्या के बाद 'अ' लगा कर उसे '५० अ' कर दें ।

## ८. शुद्धिकरण

टंकरण हो जाने के उपरान्त पांडुलिपि से उसका मिलान करें तथा टंकित प्रतियों में यदि कुछ छूट गया हो अथवा अशुद्धि रह गई हो तो उसे पहले अंतिम कार्बन प्रति में लाल स्याही से ठीक कर लें और फिर उसके अनुसार शेष सब प्रतियों को भी सुवाच्य सुन्दर अक्षरों में 'काली स्याही' से शुद्ध कर लें । यदि पर्याप्त सामग्री टंकित होने से रह गई हो तो उस पृष्ठ के आरम्भ से जिस पर सामग्री टंकित होने से छूटी हुई हो, पूरी सामग्री को इस प्रकार पुनः टंकित करा लें कि वह दो पूरे पृष्ठों पर समा जाए और उस पृष्ठ की ही संख्या दोनों पृष्ठों पर अंकित या टंकित करा लें (जैसे १५, १५ अ) ।

शुद्धिकरण के समय टंकित प्रति बड़ी सावधानी से पढ़ें । यदि पाण्डुलिपि को पुनः पढ़ कर टंकरण से पूर्व शुद्ध किया जा चुका है, जो कि परमावश्यक है, और आपने कुशल विश्वस्त–टाइपिस्ट को चुना है, तो आपको दो ही प्रकार की अशुद्धियाँ मिल सकती हैं:– टाइप पर गलत उंगली पड़ जाने से अथवा एक के ऊपर का अक्षर टंकित हो जाने से टंकण की अशुद्धि, तथा मूल से किसी शब्द, वाक्य या अनुच्छेद का टंकित होने से रह जाना । इस प्रकार की अशुद्धि तो पाण्डुलिपि और टंकित प्रति का मिलान करने से शीघ्र पकड़ में आ जायेगी और ठीक कर ली जायेगी ; किन्तु पाण्डुलिपि को शुद्ध नहीं किया गया होगा तो प्रायः पाँच प्रकार की अशुद्धियाँ हो सकती हैं –––

(१) वर्तनी की अशुद्धियाँ
(२) वाक्य–विन्यास की अशुद्धियाँ
(३) शब्द–मुहावरों और लोकोक्तियों के अशुद्ध या भ्रांत प्रयोग
(४) विराम–चिन्हों की अशुद्धियाँ तथा
(५) प्रलेख–पोषणांक और उनसे सम्बन्धित प्रलेख-पोषणों का आगे–पीछे हो जाना या टंकित होने से रह जाना ।

शोध प्रबन्ध में इनमें से किसी प्रकार की अशुद्धि क्षम्य नहीं है । प्रत्येक अशुद्धि शोधार्थी के अज्ञान को सूचित करेगी । अतः शोधार्थी को इस सम्बन्ध में विशेष सावधान रहना अपेक्षित है । भाषागत शिथिलता शोधप्रबन्ध के लिये बड़ी घातक होती है । शोध–प्रबन्ध में इन सब पर विशेष दृष्टि रखनी चाहिए ।

## ९ जिल्द

व्यवस्था–क्रम ठीक कर लेने के उपरान्त प्रबन्ध की सब प्रतियाँ किसी अच्छे जिल्द बाँधने वाले को दे देनी चाहिएँ । प्रबन्ध में सौंदर्य लाने के लिए प्रबन्ध का प्रथम पृष्ठ, जिस पर विषय और शोध–कर्ता का नाम हो, तथा अध्यायों के खाली नामों का एक–एक पृष्ठ मुद्रित करा कर सम्बन्धित अध्याय प्रारम्भ होने से पूर्व लगाया जा सकता है । जिल्द अच्छी और पक्की हो । जिल्द बँध जाने के उपरान्त उत्तम कागज का जिल्द-आवरण (Jacket) जिस पर प्रथम पृष्ठ के समान शोध-विषय तथा शोधकर्ता आदि का नाम छपा हो, चढ़ाने से प्रबन्ध खिल उठता है । हाथ लगाने से आवरण गन्दा न हो, इसके लिए ऊपर से 'पौलीथीन' का एक और आवरण दे दिया जाता है, जिसमें से शोध-विषय और शोधकर्त्ता का नाम स्पष्ट पढ़ा जा सकता है ।

अब पर्यवेक्षक और सम्बन्धित विभागाध्यक्ष की संस्तुति के साथ शोधप्रबन्ध विश्वविद्यालय को परीक्षार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है ।

● रीडर, हिन्दी विभाग,
वीरेन्द्र नारायण चक्रवर्ती विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र

# अरुण रामायण में विज्ञान सम्बन्धी विचार

सुश्री स्वर्ण लता

विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान । यह विशेष ज्ञान भौतिकता तथा आध्यात्मिकता इन दोनों विचार धाराओं से समन्वित चला आ रहा है । भारतीयों की खोज का मुख्य आधार आध्यात्मिकता रही है । इस का यह तात्पर्य नहीं कि वे भौतिक-विज्ञान से अनभिज्ञ थे ।

प्राचीनकाल में चामत्कारिक विज्ञान के लिए मायाशक्ति, मन्त्रशक्ति आदि शब्दों का प्रयोग होता रहा है ।

साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है अतः आधुनिक वातावरण का प्रभाव अरुणरामायण पर भी पड़ना स्वाभाविक है । अरुण ने प्राचीन रामकाव्य वालमीकि रामायण से प्रभावित होते हुए भी आधुनिक युग के वैज्ञानिक प्रभाव को स्वीकार किया है ।[2]

आधुनिक युग में मानवीय जीवन में भौतिकता की प्रधानता हो गई है । आज मानव अधिकतर भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में संलग्न है । इस भौतिकता के संदर्भ में आज का विज्ञान आसुरीमाया से मिलता-जुलता लगता है ।

अरुणरामायण आधुनिकयुग की कृति है आज नव विज्ञान मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्थान बना चुका है ऐसे समय में कोई साहित्यकार विज्ञान से दूर नहीं रह सकता । पोद्दार जी ने रावण तथा उस के कुल को विज्ञान का आविष्कारक माना है । रावण एक ऐसा वैज्ञानिक है जिस के परीक्षणों के कारण ऋषि-मुनि सभी चिन्तित हैं । राम द्वारा अपने परित्राण की आशा करते हुए अगस्त्य कहते हैं—

विज्ञान असुर के हाथों में अब दूषित है<br>
संहार-शक्ति से उसकी बुद्धि विभूषित है<br>
मननानी इच्छा जहां, विवेक वहां न कभी<br>
इतराता है राक्षस का बल हर ओर अभी<br>
तुम ठीक समय पर आए हे अवतरित राम ।<br>
आए तुम अपने बाण-सहित ऋषि-विदित राम ।[1]

खड़ी बोली राम-काव्यों में विज्ञान को इतना अधिक स्थान नहीं दिया गया जितना कि अरुणरामायण में । इस का कारण यह प्रतीत होता है पोद्दारेतर कवियों का दृष्टिकोण जनजागृति की ओर तो था परन्तु राम के रूप को प्रायः वे पुरानी कथा से कम ही अलग कर पाए । अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'वैदेही वनवास' में तथा मैथिली शरण गुप्त ने 'साकेत' में वैज्ञानिक आधार तो लिया है परन्तु आधुनिक भौतिक विज्ञान की ओर दृष्टि अधिक नहीं जा सकी है जब कि पोद्दार जी ने राम-कथा के प्राचीन रूप की रक्षा करते हुए आधुनिक विज्ञान के महत्व को स्वीकार किया है । वैज्ञानिक उपलब्धियों के गुण दोषों से परिचित कवि का अभिप्रेत अमर्यादित विज्ञान को मर्यादित करना है । दिव्यास्त्र की संयोजना मे कवि ने वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्र की ओर संकेत करते हुए इस प्रकार लिखा है—

सिद्धाश्रम में आ गए सभी आते-आते<br>
आए कौशिक अपने रहस्य को बतलाते<br>
कुछ ही दिन में दिव्यास्त्र-शस्त्र-विद्या अर्पित [3]

डा० कुमार विमल ने अरुणरामायण के प्राक्कथन में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है । "अरुणरामायण में कवि ने रावण को वैज्ञानिक सभ्यता का पक्षधर प्रतीक बना दिया है तथा वैज्ञानिक और औद्योगिक शक्ति को आसुरी शक्ति के रूप में ग्रहण किया है । कवि की मान्यता है कि सभी असुर नास्तिक थे और नैसर्गिक शक्ति नियम के दृढ़ विश्वासी थे "[4]

---

1 डा० हरवंशलाल शर्मा : मध्यकालीन निर्गुण भक्ति साधना : पृ० 54—56 2 अरुणरामायण पृ० ख (निवेदन)
3 अरुण रामायण: अरण्य काण्ड पृ० 344 4 वही० बालकाण्ड पृष्ठ 24

अरुण ने रावण के अशोकवन को तंत्रोद्यान कहा है और रावण से इस प्रकार कहलवाया है—

मेरा अशोकवन तन्त्र–रश्मि से रक्षित है
सम्पूर्ण वाटिका सिद्धि–गन्ध सुरभित है [1]

दूत के रूप में हनुमान् के लौटते समय सीता ने भी हनुमान् से यही कहा कि वे रावण की तंत्र–सिद्ध कारा में ध्यानमयी योग श्री–सी बन्दिनी है,

कहना कि जानकी योग-श्री सी ध्यान मयी
रावण की तन्त्र–सिद्धिकारा में प्राणमयी, [2]

कवि की मान्यता है जिस प्रकार आज के विज्ञान ने अपरिमित उन्नति की है और आधुनिक वैज्ञानिक नये परीक्षणों के लिए अनेक विस्फोट कर रहे हैं तथा ग्रह नक्षत्रों पर भी विज्ञान का अधिकार होता जा रहा है, उसी प्रकार की वैज्ञानिक उन्नति रावण ने कर ली थी। सर्वत्र विज्ञान का एकाधिकार उस समय हो चुका था, जो लेखक ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

स्थल में भी वे, जल में भी वे, नभ में भी वे
हे राम ! आज तो वे ही वे–हैं वे ही ये ! [4]

वर्तमानयुग में जिस प्रकार हाईड्रोजन, परमाणु आदि बम बन चुके हैं तथा इन आयुधों का द्वितीय महायुद्ध में जापान के प्रसिद्ध नगर हिरोशिमा और नागासाकी में विनाशकारी प्रयोग हो चुका है इसी प्रकार के परमाणु बमों के प्रयोग का सकेत अरुणरामायण में उपलब्ध है। लेखक ने विराध नामक राक्षस के द्वारा असुरों की वैज्ञानिक शक्ति को प्रकट करते हुए परमाणु शक्ति का संकेत 'आयुध' शब्द से इस प्रकार किया है—

वे अम्बर से भी आयुध को बरसा सकते
वे करते रहते हैं कभी–कभी विस्फोट घोर
उन के अन्तर्गत विश्व–समर–साधन अघोर [4]

इसी वैज्ञानिक साधना को राम अगस्त्य ऋषि के आश्रम में देखते हैं।

रघुबीर देखते रहे साधना–शक्ति यहाँ।
कौशिक–गुरु में वैज्ञानिकता की सिद्ध प्रचुर। [5]

जिस प्रकार आधुनिक विज्ञान का साम्राज्य पृथ्वी, नभ और जल में छाया हुआ है उसी प्रकार की वैज्ञानिक उन्नति चहुँमुखी थी। रावण की जलीय वैज्ञानिक उन्नति का वर्णन विभीषण इस प्रकार राम के सम्मुख करते हैं—

रावण की तान्त्रिक शक्ति सिन्धु में भी रहती है
जल–तल पर भी उसकी विज्ञान वायु बहती है। [6]

जिस प्रकार आधुनिक युग में सूचनाएं प्राप्त करने के साधन बेतार का तार, वायरलेस, राडार आदि बन चुके हैं उसी प्रकार के साधन रावण के पास भी थे। समुद्र पर हो रहे पुल–निर्माण सम्बन्धी समाचार को सूक्ष्म यन्त्रों द्वारा रावण लंका में जान रहा था —

लंका में सजग हुआ वह रावण वैज्ञानिक
वह सूक्ष्म शक्ति से प्रकट हुआ सहसा उस क्षण [7]

हनुमान् जब लंका की ओर प्रस्थान करते हैं तो मार्ग में लंकिनी तन्त्र–जाल से बाधा उपस्थित करती है—

लंका के तन्त्र-जाल में सहसा बन्दीमन
आसुरी शक्ति–प्रहरी लंकिनी हुई क्रोधित [8]

रावण सामरिक यन्त्रों से लंका के प्राचीर की सुरक्षा किये हुए है। यह रक्षा उसी प्रकार की है जिस प्रकार आधुनिक युग में सीमा सुरक्षा के लिए सामरिक यन्त्रों का प्रयोग हो रहा है—

सामरिक यन्त्र से परकोटा भी संरक्षित
स्वर्णिम प्राचीर–छिद्र सम्मुख सैनिक सशस्त्र [9]

(1) अरुणरामायण सुन्दरकाण्ड पृ 451 (2) वही० पृ० 475 (3) वही० अरण्य काण्ड पृ० 340
(4) वही अरण्यकाण्ड पृ० 340 (5) वही० पृ० 344 (6) वही० पृ० 448 (7) वही : सुन्दरकाण्ड: पृ० 489
(8) वही० पृ० 438 (9) वही० लंका कांड : पृ० 507

रावण के शस्त्रागार के चारों ओर कड़ा पहरा था जो इस प्रकार व्यक्त किया गया है —

हैं स्तम्भ दूरवीक्षण यंत्रों के लाल–लाल
विज्ञान–भवन के चारों ओर कड़ा पहरा । [1]

उस समय की वैज्ञानिक उन्नति में शक्तिमन्त्रों का महत्वपूर्ण स्थान था । मेघनाद ने शक्तिमन्त्र के उच्चारण से ही लक्ष्मण को मूर्च्छित किया है—

रे, किया शत्रु ने शक्ति–मन्त्र का उच्चारण
अति घातक शक्ति लगी लक्ष्मण वक्षस्थल में [2]

अरुण ने असुर वैज्ञानिक तथा आधुनिक वैज्ञानिक के उद्देश्य की समानता व्यक्त करते हुए सिराध के मुख से असुरों की वैज्ञानिक उन्नति का वर्णन इस प्रकार किया है जिस से वैज्ञानिक उद्देश्य की स्पष्ट रूप से परिलक्षिति हुई है—

वे सुरा सुन्दरी और स्वर्ण के अतुल धनी
उन की माया की छटा मेघ की घनी–घनी [3]

इस प्रकार विज्ञान के विविध दृश्य अरुण रामायण में चित्रित किये गये हैं । लेखक की दृष्टि में आधुनिक विज्ञान और प्राचीन आसुरी विज्ञान का उद्देश्य अन्तर्मुखी न हो कर बहिर्मुखी रहा है । ये दोनों ही भौतिक सुख जीवन का चरम उद्देश्य समझते हैं । कवि की स्पष्ट धारणा है कि विज्ञान मानव–जीवन के हित में होना चाहिए ; जन–जागृति, जनकल्याण और सभ्यता के विकास में यदि विज्ञान सहायक नहीं तो उस अमर्य्यादित विज्ञान का समाप्त होना आवश्यक है । आत्मसुख के लिए कवि ने विज्ञान को स्वीकार किया है किन्तु यह भौतिक उन्नति आत्मिक उन्नति से ही पूर्ण हो सकती है—

संसार राममय बन सकता सात्विकता से
भौतिकता होगी प्रेम–दीप्त आत्मिकता से [4]

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग ,
जम्मू विश्वविद्यालय

———

मानव के अंतर में जो कुछ उत्तमतर है
उसके अभिव्यंजन का जीवन यह अवसर है।
—बच्चन

———

(1) अरुण रामायण पृ० 508 (2) अरुण रामायण लंका काण्ड पृ० 533–534 (3) वही० अरण्य काण्ड पृ० 340
(4) वही लंका काण्ड पृ० 537

# नारी और राजनीति

श्रीमती नीलम छाबड़ा

राज्य की रक्षा और शासन को दृढ़ करने का उपाय बताने वाली नीति [1] ही राजनीति है !

साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में यदि नारी का राजनीति से सम्बन्ध देखना हो तो यद्यपि हमारा लक्ष्य इसे आधुनिकता की तुला में परखना होगा तथापि प्राचीन काल से चली आ रही प्रशासन व्यवस्था एवं उसमें नारी का योगदान रहा कि नहीं ? यदि रहा ; तो किस सीमा तक ? भी दृष्टव्य है ।

आदि युग में मातृ–परम्परा के अनुसार पीढ़ियां चलती थीं । [2] आदि समाज का जन्म और उसका निर्माण मातृ सत्ता द्वारा ही हुआ था । [3] आदिम साम्य संघ में पिता की शासन–सत्ता और श्रम की विविधता नहीं थी [4]

वैदिक युग में आकर कुटुम्ब पितृसत्तात्मक हो गया किन्तु मातृ सम्मान परम् आवश्यक था। [5] इस युग में नारी की सामाजिक स्थिति थी, किन्तु शासन–कार्य पुरुष के हाथ में रहता था । तथापि वैदिक कालीन 'समिति' 'सभा' एवं 'विदथ' आदि संस्थाएं राजनीतिक विषयों के विवेचन के लिये बनी थीं । 'समिति' और 'सभा' तो निश्चित रूप से राष्ट्रीय संस्थाएं थीं जिनमें से 'समिति' एक प्रकार से आधुनिक लोक सभा का पूर्ववर्ती रूप थी जिसमें राष्ट्र के राजनीतिक विषयों पर भी विचार–विमर्श किया जाता था । [6] इतना ही नहीं 'विदथ' के अतिरिक्त तैत्तरीय संहिता से इस युग की एक पृथक स्त्री-संस्था के अस्तित्व का पता मिलता है । यहां स्त्रियां नारी विषयक समस्याओं एवं उनके अधिकार और कर्तव्यों पर विचार–विमर्श करती थीं । [7]

उपनिषद् काल में नारी–स्थिति वैदिक कालीन नारी की अपेक्षा निम्न हो गई थी । [8] इस काल में गार्गी मैत्रेयी जैसी विदुषी नारियां अवश्य हुई किन्तु ऐसा कोई विवरण नहीं मिलता जिस के आधार पर प्रशासन व्यवस्था में नारी–हस्तक्षेप का प्रमाण मिलता हो ।

वैसे स्त्रियों के शासन–प्रबन्ध हाथ में लेने एवं राजनीति में अभिरुचि रखने का संकेत बहुत प्राचीन काल में मिलता है । सूर्य वंशी और चन्द्रवंशी प्रसिद्ध क्षत्रिय वंशों के उल्लेखों में भी यह बात सिद्ध होती है । जनमत के लेने पर भी राम को युवराज बनाने के प्रस्ताव विफल बना देने में केवल कैकेयी की स्वार्थ पूर्ति की भावना न थी, इसमें सही या गलत उस की राजनीतिक चाल भी थी । [9]

महाभारत काल में राजनैतिक एवं शासकीय ज्ञान रखने वाली स्त्रियों में विदुला का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । विदुला ने राजनीति के रहस्य वर्णन में शत्रु से किस प्रकार निबटना चाहिए, इस की बहुत विशद व्याख्या की है । कुंती भी राजनीति की मर्मज्ञ थी । कुंती का यह वाक्य–'राजा का कारण काल है अथवा काल का कारण राजा है, इस विषय में संदेह न करो कि राजा ही काल का कारण है । [10] इसके अतिरिक्त कुरुकुल की सत्यवती एवं द्रौपदी के नाम भी इस प्रसंग में

(1) बृहत हिन्दी कोष (2) भारत ——श्रीपद अमृत डांगे (अनु० आदित्य मिश्र) पृष्ठ—84 (3) वही .... 86 (4) वही .... 61–68 (5) भारतीय संस्कृति का इतिहास—डा० सत्यकेतु विद्यालकार 44 (6) भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास —चन्द्रबली पांडेय—पृज—193 (7) Cultural Forum जनवरी 1964—पृष्ठ 123 (9) भारतीय संस्कृति का इतिहास—डा० सत्यकेतु विद्यालकार —54 (10) Cultural Forum—जनवरी 1954—पृष्ठ 194 (11) महाभारत—उद्योग पर्व—132-17

उल्लेखनीय है ।

गुप्तयुग में उच्चवर्गीय स्त्रियों की स्थिति बड़ी उन्नत थी। वे शासन प्रबन्ध में प्रमुख भाग लेती थीं। कुछ प्रान्तों में विशेषतः कन्नड़ प्रदेश में वे प्रान्तीय शासन और गांव के मुखिया का कार्य भी करती थीं [1]। ललित कलाओं के अतिरिक्त कुछ स्त्रियों ने इस समय शासन प्रबन्ध तथा रणकौशल जैसे पुरुषोचित कार्यों में भी अपनी पटुता प्रदर्शितकी थी [2]। चन्द्रगुप्त प्रथम (319–320 ई०) के सिक्कों पर उसकी महादेवी कुमार देवी का चित्र पाया जाता है [3]। चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्त ने जो वाकाटक नृपति पृथ्वी सेन प्रथम के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय के साथ विवाहित थी ; अपने पति के निधन पर उसके पुत्र प्रसेन द्वितीय के अल्पवय होने के कारण रिजेन्ट के रूप में काम किया [4]। बाण के हर्ष चरित से ज्ञात होता है कि हर्षवर्धन के शासन में उसकी बहिन राज्यश्री से पर्याप्त सहकार मिलता रहा [5] चालुक्यों के राज्य काल में राज्यपाल अथवा दूसरे महत्वपूर्व पदों पर स्त्रियों की नियुक्ति एक साधारण बात थी [6]।

राजपूत काल में रानी कर्मवती का नाम उल्लेखनीय है ; जिसने अपने पति सायरसी के निधन पर राज्य की वागडोर अपने हाथ में लेकर आक्रान्ता कुतुबुद्दीन को खदेड़ दिया। राणा सांगा की वीर विधवा रानी का शौर्य इतिहास सम्मत है। इसके अतिरिक्त गोंडवाने की रानी दुर्गावती और मुग़ल काल की राठौर रानी दुर्गावती द्वितीय की वीरता एवं राजनीनि के क्षेत्र में पटुता अविस्मरणीय है। किन्तु इस काल मे सामान्य नारी की स्थिति में गिरावट आ गई क्यों कि राजपूत काल में कन्या को अभाग्य की द्योतक समझा जाने लगा था। [7] किन्तु नारी के प्रभाव से राजनीति वंचित न रह सकी। राजपूत काल में नारी बहुधा दो राज्यों के बीच युद्ध का कारण बनती रही। परन्तु राजनीति को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने वाली नारियों में जीजाबाई, उमाबाई और दामाडे आदि के नाम प्रसिद्ध है।

मुस्लिम युग में साधारणतः नारी का जीवन नारकीय हो गया था और 812 ई० के मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण से ले कर मुग़ल साम्राज्य के पतन तक भारतीय शालीनता का इतिहास नारी अपने रक्त से लिख रही थी [8]। तथापि रजिया बेगम जैसी स्त्री भी हुई जिसने शासन की वागडोर बड़े सुचारु रूप से संभाली। मुग़ल काल में भी राजनीति (शासन कार्य) से निकट सम्बन्ध रखने वाली नूरजहाँ (मेहरुनिसा) का नाम सर्वविदित है।

1857 के युद्ध में रानी लक्ष्मीबाई ने जनमत को जाग्रत करने, सैन्य संगठन और संचालन करने एवं शौर्य भरने में पुरुषों से कहीं अधिक साहस दिखाया। ऐसा ही उदाहरण रानी अहिल्यावाई का भी है।

आधुनिक काल का प्रारम्भ मुग़लों के पतन एवं ब्रिटिश शासन के उदय के साथ हुआ। बीसवीं शती तक पहुँच कर देश में एक राजनैतिक लहर उठी। राजनैतिक संघर्ष–काल में चारों ओर आन्दोलनों के बवंड़र उठ रहे थे. ऐसे अवसर नारी भी प्रभावित हुई। उसने राननैतिक आह्वान को सुना। वह लहर तत्कालीन अव्यवस्था के विरुद्ध एक संघर्ष के रूप में उठी।

(1) हिन्दी महाकाव्यों में नारी चित्रण–श्याम सुन्दर व्यास—पृष्ठ 25 (2) भारतीय संस्कृति का इतिहास—डा० सत्यकेतु विद्यालंकार—174 (3) गुप्त क्वाइन्ज—एलेन (4) पोजीशन आफ वीमेन इन हिन्दु सिविलाइजेशन—ए० एस० अलनेकर—46 (5) दि गुप्त एम्पायर–राधा कुमुद मुकर्जी——147 (6) वही... 146

(7) हिन्दी महाकाव्यों में नारी चित्रण—श्याम सुन्दर व्यास—पृष्ठ 26 (8) भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण डा० भगवत शरण उपाध्याय—606

हुमायूँ कबीर ने अपनी पुस्तक 'दि इण्डियन हेरिटेज' में तत्कालीन परिस्थितियों का सुन्दर चित्र अंकित किया है [1]। अतः एक राष्ट्रीय भावना का जन्म हुआ। उन्नीसवीं शती की नारी को बीसवीं शती की नारी से इसी भावना के विकास स्वरूप ही अलग किया जा सकता है। ऐतिहासिक तथ्य है कि राष्ट्रीय महासभा के आरम्भ काल से देश के उत्थान में भारतीय नारी ने सक्रिय भाग लिया, फलस्वरूप उसने राजनीतिक-अधिकारों को भी प्राप्त किया। 1885 में कांग्रेस का निर्माण हुआ, 1886 में शिलांग में जो महिला सभा बनी थी, उसकी नेत्री हेमन्त कुमारी ने हिन्दी 'सग्रहिनी' नामक पत्र प्रकाशित किया जिसका ध्येय एक भाषा के माध्यम से असमियों और बंगालिओं को राजनीतिक एवं सांस्कृतिक सूत्र में ग्रथित करना था [2]। 1914 में श्रीमती एनी बेसेंट ने महिलाओं का ध्यान राष्ट्रीय क्षेत्र की ओर आकर्षित किया। इसी कारण 1917 में वह कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन की प्रथम महिला अध्यक्ष बनी। अधिकार के प्रश्न को लेकर सरोजिनी नायडू, एनी वेसेंट तथा हीरा बाई ने 1919 में संयुक्त संसदीय समिति के सम्मुख महिलाओं के अधिकार के प्रश्न को प्रस्तुत किया किन्तु 1919 के अधिनियम में महिलाओं को यह अधिकार प्राप्त न हो सका। 1921 में महिलाएं अधिकार पाने में सफल हो गई जिन के लिये 1917 में श्रीमती सरोजिनी नायडू द्वारा ई० एस० मान्टेग्यू के समक्ष प्रस्ताव रखा गया था। यह (1917 मे की गई माँग) भारतीय इतिहास में महत्व पूर्ण घटना थी और मताधिकार के लिये यह नारियों की सम्मिलित प्रथम माँग थी [3]।

1928 में पहली बार भारतीय महिला सरोजिनी नायडू को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में अध्यक्ष-पद ग्रहण करने का गौरव प्राप्त हुआ। इस समय तक महिला समाज में राजनीति के प्रति आकर्षण का विकास हो चला था और वे पूर्ण उत्साह से उसमें भाग लेने लगी थी। 1929 की प्रथम गोलमेज सभा में महिलाओं की भारतीय परिषद की प्रतिनिधि बेगम शाह नवाज तथा श्रीमती सुब्बारमन ने महिलाओं के मताधिकार को विस्तृत करने का समर्थन किया और सुझाव दिया कि विधवाओं को जो अपने मृत पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी हैं मताधिकार प्रदान किया जाए [4]। 1935 में जब नये विधान की रचना की गई तो स्त्रियों के लिये मताधिकार और विधान सभा में सुरक्षित सीटों की व्यवस्था की गई अर्थात अब स्त्री के अधिकारों को पुरुष के अधिकारों के स्तर तक लाने का प्रयत्न किया जाने लगा। परिणामतः 1936 में श्रीमती रुक्मणी लक्ष्मीपति महाराष्ट्र मंत्री मण्डल की सदस्य बनी तथा 1937 में अधिनियम-'हिन्दू नारियों का सम्पत्ति एक्ट' प्रकाश में आया।

वस्तुतः नारियों ने अपने अधिकारों के लिये सतत प्रयत्न किया, जो मानवीय इतिहास की सर्वाधिक महत्व पूर्ण घटना है [5]। इन्ही प्रयत्नों के कारण 1940 में भारतीय विधान सभाओं मे 60 के लगभग महिलाएं

---

(1) The old values and beliefs were being challenged......the old period, traditional period of social, economic and political life was disturbed and at times destroyed–Cheap Modern Ferment P. –116–117

(2) भारतीय समाज मे नारी आदर्शों का विकास—चन्द्रबली त्रिपाठी 266 (3) इंडियन वुमनहुड टुडे—मार्गेट ई० कज़िन्ज (1941 इलाहाबाद)—पृ० 33 (4) वुमेन आफ इण्डिया—फ्रैंक मोरिस—96

(5) Freedom and equality are the basis of human development and women fought for them and their great struggle has remained a land mark in human history व्हीदर वुमन ?—वाई० एम० रोग (बम्बई 1938)—page 272

प्रतिनिधित्व कर रही थीं। 1947 में भारत स्वतन्त्र हुआ और 1950 में स्वतन्त्र भारत का संविधान लागू किया गया तो उस में पुरुष और स्त्री का समान सामाजिक, राजनैतिक एवं राष्ट्रीय स्तर निर्धारित किया गया। 1952 और 1957 में हुए निर्वाचनों में महिलाओं ने भाग लिया और सफलता भी प्राप्त की। संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रथम महिला अध्यक्षा बनने का श्रेय भी भारतीय नारी (विजय लक्ष्मी पंडित) को ही प्राप्त हुआ है। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि भारतीय नारी ने राजनीति में हस्तक्षेप हेतु जितनी शीघ्रता से अधिकार प्राप्त किये उतनी शीघ्रता अन्य देशों की स्त्रियां न कर सकीं।[1] मतदान के लिये अधिकार (Franchise) पाने के लिये अंग्रेज महिलाओं को घोर संघर्ष करना पड़ा उन्हें इग्लैंड में वोट का पूरा अधिकार 1918 में मिला एवं फ्रांस में 192) में तथा संयुक्तराज्य अमेरिका में 1944 ई० में।'[1] किन्तु भारतीय नारी को इन अधिकारों को पाने के लिये अधिक कठिन परिस्थितियों से जूझना नहीं पड़ा।'[3]

अब विदेशों में राजदूत की स्थिति में, देश में मंत्रीमंडल के माननीय सदस्यों के रुप में एवं शासन संचालन में राज्य पाल के रूप में भारतीय नारी का प्रशंसनीय योगदान है। इस समय सभी राज्यों की विधान सभाओं एवं विधान परिषदों में स्त्रियाँ सदस्य हैं।

हम प्रीति-शिखा।
अति आधुनिका।
हम पढ़ी लिखी नव नागरियाँ,
गोरस न सुरा की आगरियां,
हम नहीं गृहों की चाकरियाँ,
हम नित्य-निपुण गुण आगरियां,
—पंत

नारी सौन्दर्य की प्रतिमा है। यों सारी प्रतिमायें जड़ होती हैं, एक नारी मात्र है जो माँसल और चेतन होती है। संगीत उसका सहचर है। इन्हीं दोनों वस्तुओं ने संसार के प्रचन्ड तूफानों को रोक रखा है।

(शरण कृत सूक्ति कोश से)

---

1 वुमेन आफ इण्डिया—–फ्रेंक मोरिस—96 2 Freedom amd equatity are the basis of human development, women fought for them and their great struggle has remained a land mark in humen history व्हीदर वुमन :—वाई० एम० रीग (बम्बई 1938) Pag—272 3

4 भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास—चन्द्रबली त्रिपाठी—171 5 only a little over thirty years after the first agitation for suffrage, Indian women secured an equality of rights that had taken much longer to achieve in western countries women in the modern world Lakshmi menon—P. 37

# लोक साहित्य के अध्ययन की पद्धतियां

डॉ० शंकर लाल यादव

लोकवार्ता साहित्य के व्यवस्थित अध्ययन का शुभारम्भ ईस्वी सन् 1810 के लगभग माना जाता है । यह वह समय है जब जेकब कार्ल ग्रिम और विल्हेल्म कार्ल ग्रिम के किंडर एण्ड हउस मार्खे नामक ऐतिहासिक ग्रंथ के दो भाग प्रकाश में आये ।

लोकवार्ता साहित्य की ओर विद्वानों का ध्यान कैसे आकृष्ट हुआ इस दिशा में दो विचार धाराएं प्रस्तुत की गई हैं । एक के अनुसार यह प्रवृत्ति फ्रांसीसी राज्य क्रांति (1791) का सीधा परिणाम थी जिसने उग्रराष्ट्रवाद का बीज वपन किया था । इस आन्दोलन के परिणाम स्वरूप लोकसत्ता की महत्ता आंकी गई और सामन्त वर्ग का पतन हुआ—राष्ट्रवादी भावना जन भावना का पर्याय बनी तथा लोकवार्ता साहित्य का महत्त्व बढ़ा दूसरों के अनुसार इस लोक परक प्रवृत्ति के मूल में रोमाण्टिसिज्म की विचार क्रांति है । रोमाण्टिसिज्म या स्वच्छंदतावाद का सीधा प्रभाव हुआ—क्लासिकल या उदात्त का उन्मूलन ।

लोक साहित्य का अध्ययन करते समय दो बातों पर विशेष ध्यान जाता है, एक-लोकवार्ता सामग्री का संचयन, दूसरे-अध्ययन की दिशा । लोक वार्ता के अध्ययन की विविध पद्धतियों में प्रमुख हैं :—1—ऐतिहासिक तुलनात्मक पद्धति 2—नृतत्वशास्त्रीय पद्धति 3—ऐतिहासिक भौगोलिक पद्धति ।

1—ऐतिहासिक तुलनात्मक पद्धति :—इस पद्धति के अन्तर्गत लोकवार्तातत्व के अध्ययन का बल उसके गत्यात्मक पक्ष पर रहता है और साथ ही तुलनात्मक दृष्टि रहती है । इस पद्धति को स्वीकार करने वाले सभी मनीषी प्राच्य विद्या-विशारद तथा भाषाविद् रहे हैं । इनकी दृष्टि धर्मगाथाओं पर विशेष रही है इसलिये धर्मगाथा के सहारे लोकवार्तातत्व तक पहुंचने की चेष्टा इस पद्धति की विशेषता है ।

इस पद्धति से कथाओं, नामों, शब्दों तथा अभिप्रायों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है और माना जाता है कि समान गाथाओं का उद्गम स्थान एक ही है उनमें विश्वास रखने वाले भी किसी एक ही स्थान के रहने वाले होंगे और उनकी विचार सरणी अथवा मानसिक परिकल्पनाएं भी एक सी रही होंगी ।

इस पद्धति के प्रवर्तक भारत—विद्याविशारद कुन्ह, मनहार्ट, मिलर, मैक्समूलर आदि यूरोपीय तथा बूस्लमेव और अफनास्मेव आदि रूसी विद्वान हैं । इस पद्धति की मान्यता से 1859 ईस्वी में थ्योडोर बेंफे के प्रसारवादी स्कूल के सुझावों के आधार पर कुछ परिवर्तन किये गये । बेन्फे ने पचतंत्र की कहानियों की, ऐतिहासिक तुलनात्मक पद्धति से जांच की और वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि लोक गाथाएं किसी एक स्थान पर उत्पन्न हुई और अपनी रोचकता एवं प्रभविष्णुता के कारण इर्द गिर्द दूसरे क्षेत्रों में उसी भांति फैलती चली गई जिस भांति शांत जलाशय के मध्य कंकड़ी के आघात से उत्पन्न लहरें चारों और फैल जाती हैं । इस मान्यता का तात्पर्य यह हुआ कि समान धर्मगाथा वाली जातियां किसी एक ही परिवार की नहीं हैं, वे जातियां भिन्न—भिन्न परिवारों की भी हो सकती हैं ।

किन्तु आर्ने—थामसन के अभिप्राय सिद्धान्त के आने पर इस पद्धति पर से विद्वानों का ध्यान हटने लगा कारण, मानक तत्वों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा किसी एक समाज, वर्ग या परिवार के लोक वार्ता साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन तो किया जा सकता है, पर विभिन्न वर्गों के लोकवार्ता साहित्य के अध्ययन के लिए यह पद्धति उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती । आवश्यकता इस बात

की अनुभव हो रही थी ( जो आगे चल कर अभिप्राय विवेचन पद्धति द्वारा पूरी हुई ) कि लोकवार्ता के गठन पर विचार होना चाहिए । यह देखना चाहिए कि लोकवार्ता साहित्य के उपादान तत्व कौन से होते है, वे किस प्रकार आपस में जुड़ते हैं और फिर ये संबद्ध अंश कैसे सम्पूर्ण कथा आदि की रूपरेखा निर्धारित करते हैं।

1– नृतत्वशास्त्रीय पद्धति :–इस पद्धति का संबंध टेलर महोदय से है । इन्होंने अपने गम्भीर अध्ययन और गहन दृष्टि से सन् 1871 में नृतत्वशास्त्र की विश्व विख्यात पुस्तक 'प्रिमिटिव कल्चर' प्रस्तुत की और अपने अकाट्य तर्कों के आधार पर पूर्ववर्ती पद्धति जिसका संबंध वेन्फे की प्रसार या उधारवादी पद्धति से है, की निस्सारता घोषित की । उनकी स्थापना को बल मिला लोकवार्ता विषयक उस प्रभत सामग्री से जो अफ्रीका, तथा एशिया के विशाल भू–भाग पर अंग्रेजी व फ्रांसीसी आधिपत्य हो जाने पर वहां से एकत्रित हुई थी । उन्होंने इस बात का खण्डन किया कि जिन जातियों में समान तत्वों वाली लोकवार्ताएं मिल रही हैं वे किसी एक परिवार की रही होंगी अथवा उनके लोकवार्ता के तत्व किसी एक ही स्रोत से उत्पन्न हो कर इधर उधर फैले होगे । इस मान्यता के समर्थकों में टेलर के अतिरिक्त जोसफ बेडियर का नाम भी उल्लेखनीय है । इन नृतत्वज्ञों की स्थापना का सार यह है :–

क– सभी जातियों के आरभिक जीवन की रहन सहन प्रणालियों, रीतिरिवाजों, धार्मिक प्रवृत्तियों और अभिव्यंजन सरणियों में जो अद्भुत साम्य दिखाई पड़ता है उसका कारण मनुष्य स्वभाव का एक रासता है न कि उधार प्रवृत्ति ।

ख– मानव स्वभाव की यह एकरूपता मानव के मस्तिष्क,उस की विचार पद्धति और उसके विचार के विकास के क्रम–साम्य के कारण है । परिणामतः प्रत्येक जाति ने अपने लोकवार्तातत्वों का निर्माण अपने क्षेत्रों में स्वतंत्र रूप से किया है । उनमें एकता है पर वह एकता कोई नक्ल, उधार, अंधानुसरण की देन नहीं है । जिस प्रकार प्रत्येक जनजाति ने अपनी भाषीय व्यवस्था स्वयं अर्जित की है उसी प्रकार उसने अपनी वार्ता भी अर्जित की है ।

ग–आदिम मानव ने ही संस्कृति के मूलबीज–बिन्दु का निर्माण किया और उन बिन्दुओं के मूलस्वरूपों का अवशेष आज भी हमें मिलता है । इन अवशेषों की कहानी बड़ी रोचक है । ये अवशेष वे हैं जिनमें आदिम मूल विश्वास उपलब्धि हैं और जिन्हें जीववाद (एनीमिज़्म), जीवीवाद (एनिमिटज्म) मैजिक (टोना) और पूर्वजपूजा की व्याख्या से समझा जा सकता है ।

जीववाद के अनुसार आत्माएँ शरीर नष्ट होने पर भी अस्तित्व में रहती हैं और भौतिक संसार की समस्त घटनाओं को नियन्त्रित एवं प्रभावित करती हैं । यह भी माना जाता है कि इन आतमाओं का मनुष्यों से संबंध होता है । अतः इस सिद्धान्त के प्रवंतक मानते हैं कि मृत आत्माओं के प्रति सम्मान और आदर–प्रदर्शन से ही समस्त धर्म उपजे हैं । इस प्रकार प्रथम मंदिर एक कब्र थी या एक समाधि थी । मृतात्माओं की यह पूजा पद्धति जन–जातियों में ही नहीं, नागर जातियों में आज भी पिण्डदान और पितृतर्पण व श्राद्ध के रूप में बिद्यमान है । इसी प्रकार चेतना पदार्थो की भांति अचेतन पदार्थो में भी जीवन का स्पंदन समान रूप से मानने वाला जीवीवाद भी जीवित है । टोना सिद्धांत के अनुसार टोना में एक शक्ति मानी जाती है जो प्रकृति से मनचाहा काम करातो है अथवा अदृश्य सत्ताओं को रिझाने की चेष्टा करती है । आज भी लोग हरे भरे खेतों, बाल–बच्चों एवं पशुओं की की आयु बढ़ाने के लिए टोना या मैजिक करते हैं । वीर पूजा की भावना ने ही आज के इष्ट देव

(Personal Gods) को जन्म दिया । इस प्रकार संस्कृति का पौदा आदिम मानव के हाथों रोपा गया था

घ–यह सांस्कृतिक मूल बीज आरम्भ में प्रतीक व मूलतन्तु के रूप में था। ( आज वैदिक सूक्तों के अर्थ प्रतीकात्मक मान लिये गये हैं। ) आगे चलकर यही प्रतीक किसानों की कहानियां बने और विकास सोपान पर आरूढ़ हो के महाकाव्य अथवा क्लासिकल काव्य के रूप में परिणत हुए ।

ङ–इन मूल तंतुओं के विश्लेषण के लिए इस पद्धति के अन्तर्गत 'लोकमानस' को अध्ययन का विषय बनाया गया है। इस दिशा में वुन्ट महोदय की विवेचना महत्वपूर्ण है। उन्होंने अपनी अमर कृति 'साइकालाजी आफ नेशन्स' द्वारा सप्रमाण यह स्थापना की है कि आदिम मानस में गाथा के विचार बिन्दु स्वप्निल भ्रमदृश्यों में उत्पन्न हुए थे ।

च– 'गोल्डन बो' के महान विचारक जेम्ज फ्रेजर लोकामानस के विश्लेषण में टोना या मैजिक को लेकर बढ़े हैं।

इस प्रकार, इस पद्धति के अन्तर्गत, विद्वान लोकवार्ता साहित्य के माध्यम से सांस्कृतिक व सामाजिक विकास प्रक्रिया पर विशेष ध्यान रखकर चलते हैं।

3–ऐतिहासिक भौगोलिक पद्धति –इस पद्धति के पदाति लोकवार्ता साहित्य के साथ न तो धर्म-कर्म के प्रश्न को उठाते है और न मानव के आदिम मानस व स्वभाव की परख में शक्तिक्षय करते हैं । वे तो लोक साहित्य के रूप (टाइप) अभिप्राय (मोटिफ) उनके साम्य–वैषम्य व पारस्परिक आदान–प्रदान आदि का अध्ययन करते है। इनकी स्थापना है कि लोक साहित्य की प्रत्येक विधा का निजी इतिहास और विस्तार क्षेत्र है। अतः प्रत्येक विधा का स्वतंत्र और पूर्ण रूप से अध्ययन होना चाहिए ।

जैसा इस पद्धति के नाम से विदित है, यह पद्धति भौगोलिक दृष्टि लेकर चलती है और ऐतिहासिक दिशा की ओर मुड़ जाती है । यहाँ भौगोलिक से तात्पर्य है कि किसी भी लोक साहित्य विधा का संग्रह क्रमशः एक एक ग्राम से, एक एक झोपड़ी से किया जाना चाहिए और उसके जितने भी रूपांतर मिलें उन सब को एकत्र कर लेना चाहिए । साथ ही रूपान्तरों के जितने पाठ मिलें उन सब का संग्रह होना चाहिए । यह सामग्री मौखिक परम्परा के अतिरिक्त लिखित क्षेत्र से अथवा साहित्यिक क्षेत्र से भी ली जाये । संग्रह करते समय स्थान के साथ दिन व तिथि का भी उल्लेख होना चाहिए । इस प्रकार संकलित सामग्री के मौखिक रूपान्तरों को भौगोलिक क्रम से सजाना चाहिए और लिखित रूपान्तरों को तिथि-क्रम अर्थात् ऐतिहासिक क्रम से ।

भौगोलिक क्रम में स्थान नामों के लिए मोटर गाड़ियों के रजिस्ट्रेशन नम्बर की भाँति सकेताक्षरों का उपयोग किया जाता है । स्थान नामों की यह सकेताक्षरी अन्तर्राष्ट्रीय रूप में प्रचलित है यथा जरमनी के लिए GG, हालैंड के लिए GH, इटली के लिए R I, रूस के लिए SR, और इन्ड़िया के लिए ND. इन संकेतों से युक्त कहानी या अवदान आदिकों को क्रमबद्ध करके अंकित किया जाये । अंक संकेताक्षरो के साथ कहानी आदि के नाम की भाँति उपयोग में आने लगते हैं । इस प्रकार लोकसाहित्य विधा के किसी रूपान्तर को संकेतांकों से जाना जा सकता है । यथा–भारत से 5 कहानियाँ मिली हों तो उन्हें हम ND,[1] ND,[2] ND,[3] ND,[4] तथा ND,[5] नाम दे सकते हैं ।

इस पद्धति में सूत्रों के आवर्तन को भी देखना होता है । यह आवर्तन–परीक्षण तभी संभव है कि जब भौगोलिक परिभ्रमण से उपलब्ध तथ्यों को सूचीबद्ध कर लिया गया हो इस प्रकार भौगोलिक ऐतिहासिक आवर्तन गणना से बहुसंख्या के आधार पर मूलरूप या अक्षर रूप आर्चेटाइप का निर्धारण हो सकता है ।

इन विविध सूत्रों को ऐतिहासिक क्रम से भी देखा जा सकता है। ये सूत्र लोप, आगम एवं विपर्यय प्रक्रिया द्वारा बढ़ते घटते रहते हैं। हिन्दू धर्म–गाथा की रवानगी को इतिहास–माध्यम से चऋारपंक्तिरिवयों रखा जा सकता है–

प्रथम:-शतपथ ब्राह्मण में वरुण और शुनःशेप की कथा।
पुनः-उपनिषत् में वरुण (हरिश्चन्द्र-रोहित) शुनःशेप (विश्वामित्र) की कथा
पुनः-पुराण में वरुण (सत्यनारायण) शुनःशेप (वणिक-वणिक जामाता) की कथा।

इन अक्षर कथाओं अथवा मूल कथाओं की स्थापना हो जाने पर अध्ययन के नये आयाम खुलते जाते हैं।

इस प्रकार जिस ऐतिहासिक भौगोलिक पद्धति की संक्षिप्त समीक्षा की गई है, वह टाइप के अध्ययन में ही सहायक नहीं है अपितु उससे कथानक रूढ़ियों, अभिप्रायों या मोटिफ्स के अध्ययन का आधार भी प्रशस्त होता है। यह पद्धति शुद्ध लोकसाहित्यिक पद्धति है जिसके प्रवर्तक एण्टी-आर्ने और स्मिथ थामसन हैं। आर्ने ने इस पद्धति पर चलकर कहानियों के प्रकारों की अनुक्रमणिका प्रस्तुत की जो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मान्य हुई। इस अनुक्रमणिका में 1 से लेकर 2499 प्रकारों को क्रम बद्ध किया गया है। प्रत्येक वर्ग का शीर्षक वर्ग विशेष की कहानियों के प्रमुख तत्व को बतलाता है। इन प्रकारों में दशमलव पद्धति से सख्यातीत कथाओं को समेटा जा सकता है तथा भविष्य में प्राप्त होने वाले नव्य रूप आकारों को भी स्थान मिल सकता है।

मानक प्रकारों के अध्ययन में विदुषी सोफिया बर्न अग्रणी हैं। उन्होंने अपनी कृति 'हैंड बुक ऑफ फोकलोर' में मानक प्रकारों के रूप दिये हैं। उस ग्रंथ की विशेषता यह है कि उसमें मानकरूपों को खड़ा करने वाली तीलियों को भी दे दिया गया है। आगे चलकर डा० दिनेश चन्द्र मित्र ने इन प्रकारों में तीन रूप जोड़ कर वृद्धि की है।

आर्ने की यह पद्धति एक नये मार्ग का उद्घाटन तो कर सकी पर विश्व की सभी कहानियों के अध्ययन में पूर्णतया सहायक न हो सकी। यह पद्धति वहां तक तो अवश्य लाभदायक रही जहाँ तक प्रसारवाद के सिद्धांतों पर खरी उतरने वाली कहानियां मिलती रहीं, किन्तु जब इस स्थिति से भिन्न स्थिति मिलती है और कथारूप की उपस्थिति कुछ से कुछ हो जाती है तब रूपों से भी छोटे अंशों को अध्ययन का आधार बनाना उपादेय होता है। प्रथम, थामसन महोदय ने 1928 में आर्ने की अनुक्रमणिका का संशोधन कर 'दि टाइप्स आफ फोकटेल्स' नाम से उसे प्रकाशित कराया। तत्पश्चात् 1935 में कई वर्षों की सतत तपस्या के फलस्वरूप अपना महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'मोटिफ इंडेक्स' लोकवार्तांविदों को समर्पित किया। 1957 में उसका परिवर्धित संस्करण प्रकाश में आया जो छः वाल्यूमों में है। इसमें भारत की कहानियों के अभिप्राय पर्याप्त मात्रा में सम्मिलित हैं। अभिप्रायों की सहायता से कहानी में 'क्या है' और 'क्या नहीं है' का उत्तर तो मिलता ही है, लोक जीवन का सत्य भी इन्हीं के माध्यम से झलक उठता है।

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

"कोरी साधुता का उपदेश पाखंड है, कोरी वीरता का उपदेश उद्दंण्डता है, कोरे ज्ञान का उपदेश आलस्य है और कोरी चतुराई का उपदेश धूर्तता है।"

रामचन्द्र शुक्ल

# पानप की कर्म-साधना

डॉ० नरेन्द्र कुमार शर्मा

कर्म शब्द 'कृ' धातु से बना है जिसका अर्थ करना, व्यापार, धंधा, हलचल आदि होता है। सकल विश्व की भिभिन्न हलचलें 'कर्म' कहलाती हैं। इस विश्व में सदा-सर्वदा कोई न कोई न कोई हलचल होती रहती है और सभी प्राणिवर्ग कर्म-चक्र में व्यस्त रहते हैं। जब यह कर्म चक्र समाप्त हो जाएगा उसी दिन सकल विश्व ठहराव को प्राप्त हो जाएगा।

कहा गया है-'गहना कर्मणो गतिः' अर्थात् कर्म की गति गहन है। यह विश्व भी कर्म की गति का ही परिणाम है। प्राणी द्वारा किया गया कोई कार्य-व्यापार उसका कर्म कहलाता है और कर्मानुसार उसके कर्ता को कर्म-फल भोगना पड़ता है, कर्मवाद का उल्लेख वेदों में पाया जाता जाता है। 'शुभ स्थति' (अच्छे कर्मों के रक्षक), 'विचर्षणि' तथा 'विश्वचर्षणि' (शुभाशुभ कर्मों के द्रष्टा), 'विश्वस्थ कर्मणो धर्ता' (सभी कर्मों के आधार) आदि पदों का वेद में देवता लोगों के विशेषण रूप में प्रयोग हुआ है।[1]

देवों की उपासना, पूजा-पाठ, यज्ञ आदि को शुभ-कर्म कहा गया है और इन्हें कर्म-काण्ड की संज्ञा दी गई है।

गीता-रचना के समय दो मार्ग प्रचलित थे-ज्ञान मार्ग एवं कर्म-मार्ग। इन्हें निवृत्ति तथा प्रवृत्ति-मार्ग भी कहा गया है। भगवान् श्री कृष्ण ने इन दोनों मार्गों का 'ज्ञान कर्म योग समुच्चय' के रूप में समन्वय किया। गीता में निरासक्त, निस्पृह होकर कर्म करने को निष्काम कर्म की संज्ञा दी गई है और निष्काम कर्म को शुभ कर्म कहा गया हैं। सभी प्रकार के कर्मों का समावेश इसके अन्तर्गत हो जाता है।

जैन एवं बौद्ध दर्शन में संयम तथा सदाचार को कर्म की संज्ञा दी गई है। जैन मत में पुद्गल अनेक प्रकार के होते हैं और उन्हीं में कर्मों से सम्पर्क रखने वाले पुद्गल 'कर्म पुद्गल' कहे जाते है[2]।

न्याय-दर्शन में विरक्त साधकों के तत्वज्ञान को कर्म कहा गया है।

सांख्य ने विवेक बुद्धि द्वारा किया गया कर्म बन्धन रहित बताया है। अद्वैत वेदान्त ज्ञान एवं वैराग्य द्वारा किए गए कर्म को बन्धन रहित कहता है।

योग-दर्शन में योगाभ्यास द्वारा चित-शुद्धि को कर्म की संज्ञा दी गई है।

नाथ योगी-परम्परा के अन्तर्गत हठयोग-साधना द्वारा चित्त शुद्धि पर सर्वाधिक बल दिया गया। पाखण्ड तथा आडम्बर पूर्ण साधना की भर्त्सना की गई।

पानप ने भी यज्ञादि, मूर्ति-पुजा, बाह्याडम्बर को कर्म नहीं कहा, वरन भ्रम कहा[3]।

## (क) कर्मवाद तथा जन्मान्तर-व्यवस्था

साधना-पद्धति के कर्म नहीं, वरन् प्राणि-वर्ग जो भी कर्म करता है उसके बन्धन से बांधा जाता है। उस बन्धन के फलस्वरूप कर्ता को फलोपभोग के हेतु ही जन्म-जन्मान्तर तक भवसागर में आना-जाना पड़ता है। यह कर्म-प्रवाह अनादि है, इससे बच निकलना असम्भव है।

कर्मचक्र के साथ सुख-दुःख का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

1 डा० उमेश मिश्र—भारतीय दर्शन, पृ० ६६
2 वही पृ० १२८
3 पानप बोध—१२.१

दुःख से छुटकारा पाने के लिए प्राणी चेष्टा करता है और इस चेष्टा के द्वारा भी कर्म का सर्जन हो जाता है।

भारतीय दार्शनिक जन्मान्तर-व्यवस्था अर्थात् जीवात्मा को अपने कर्मों के फल का उपयोग करने के लिए बार-बार जन्म लेना पड़ता है, को स्वीकार करते हैं। जन्मान्तर-व्यवस्था और कर्मवाद का अकाट्य सम्बन्ध है।

पानप ने जन्मान्तर व्यवस्था को स्वीकार किया है। उनका स्पष्ट मत है कि लाखों योनियों में जीवात्मा को जन्म लेना पड़ता है[1]। आवागमन अकाट्य नियम है। जो वस्त्र पहना जाता है वह अवश्य ही फटता है और जगत् के नामरूप विनष्ट होते ही हैं[2]।

पानप का यह मत गीता के 'वासांसि जीर्णानि' से मिलता-जुलता है।[3]

जन्म-मरण गुणों के परिवर्तन की अवस्था है। गुणोत्कर्ष होता ही रहता है और इसी के द्वारा सृष्टि का व्यापार चलता है। देह परिवर्तनशील एवं मरणशील है अतः इसके वियोग का मोह व्यर्थ है और इसका मोह मृत्यु के समान है। मरणशील होने में अन्तर है। नित्य प्रति असंयमी जीवन भय एवं दुर्बलताओं के बोझ से दब-दब दुःख-संताप भोगना मृत्यु होना ही है। परहितार्थ अथवा कर्त्तव्य-पालन के हेतु शरीर का नष्ट होना मरना नहीं है वरन् अमर होना है।

पानप ने भयभीत तथा मृत्यु-भय से थर्राने वाले लोगों को ही मरने वाला कहा, परन्तु जो परहित-साधन में मृत्यु-भय का निराकरण करते हैं वे मृत्यु को पाकर भी अमर हो जाते हैं। उनका यश, उनकी कीर्ति विश्व में फैलकर स्फूर्ति तथा प्रेरणा देती रहती है और वे देह विहीन व्यक्तित्व के रूप में संसार में विद्यमान रहते हैं[4]। यज्ञ, दान, तप, नाम-स्मरण, चिन्तन एवं ध्यान-ये सब कर्म हैं पर नित्य-नियमित कर्म हैं जिनको निष्काम भाव से करने पर अन्तःकरण शुद्ध बनता है, अहं-भाव छूटता है और आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होती है, फिर अपनी कोई इच्छा नहीं रहती, न अपना कार्य रहता है। भगवत् इच्छा और प्रेरणा से ही सब काम होते हैं—

आपको मान रहा आपमूं, अज्ञान रहा कर्म बांधा सोय।
कहै पानप आतम पहिचाना, कर्म न लागे कोय[5]॥

माँ अपने बच्चे के पालन-पोषण में अनेक कष्ट उठाती है, यह काम वह केवल स्नेह के कारण करती है, उसको न कुछ अभिमान होता है और न कष्ट, यह उसका सहज स्वभाव है जिसमें वह सुख प्रतीत करती है। ऐसे हार्दिक एव भावना युक्त कर्म 'अकर्म' कहलाते हैं अर्थात् वह कर्म जिनके करने में कर्म का बोझ न मालूम हो। प्रकाश देना सूर्य का सहज धर्म है। सत्यता, दयालुता, मधुरता संतों के स्वाभाविक गुण है, उनने साधन नैसर्गिक हैं और उनकी उपस्थिति मात्र से ही वातावरण में चेतना और शुद्धता आ जाती है। अनन्त कर्म करने पर भी वह अकर्ता बने रहते हैं—

कर्म करे लागे नही, ऐसा है वह देस।
जो कोई वा घर जा पहूँचे, पानप जाने सोई बवेक[6]॥

अपने सत्य-स्वरूप को ना समझ सकने वाला, अज्ञान से आवृत जीवात्मा ही विभिन्न योनियों का भ्रमण करता है। पानप ने कहा है कि बिना हरि-शरण के अथवा अपना सत्य-स्वरूप पहचाने, अनेक योनियों में भटकते रहने का दुःख भोगना ही पड़ेगा[7]।

पौराणिक गाथाओं के अनुकूल जीवात्मा को अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार कई लोकों का भ्रमण करना पड़ता है यहाँ गोलोक, वैकुंठ, लोक, भू लोक, चन्द्र लोक,

---

1 पानप बानी 17.1 (2) वही 11.4 (3) वही 15.4 (4) वही 13.3 (5) पानप बोध 6.9
6 पानप बानी 18 9 (7) वही 11.11 (8) वही 12.1 (9) वही 15.7 (10) वही 18 11

रसातल पाताल लोक आदि चौदह लोकों की कल्पना की गई है।

पानप में भी कहीं-कहीं लोकों की चर्चा पायी जाती है। यह चर्चा पौराणिक गाथाओं के प्रतिकूल है। पानप लोक तो क्या समस्त ब्रह्माण्ड को ही अपने भीतर मानते हैं। उनके विचार में साधुजन की संगति में बैठना ही बैकुण्ठ है [1]। सत्संगति का परित्याग करके अनिष्ट कर्म मोह-माया में लिप्त रहना और दुःख-संताप को भोगना ही नरक है [2]। पानप का यह विश्वास है कि ओछी करनी वाले को कर्मयोग के लिए पुनः वापस आ कर दुःख उठाना ही होगा, अतः स्वर्गलोक या शिवलोक की कल्पना व्यर्थ ही है [3]।

पानप में पौराणिक लोकों की कल्पना नहीं पायी जाती है और जहाँ कहीं इनकी चर्चा है भी उसका अपना विशिष्ट अर्थ है। सकल विश्व, स्थूल एवं सूक्ष्म तत्त्व, समुद्र, तारागण एवं इस शरीर का नियन्ता, सब कुछ मानव-शरीर में ही है, [4] इस बात को स्वीकार करने वाला पानप लोकों की कल्पना में नही उलझा।

भेद में अभेद की सिद्धि ही पानप की मुक्ति है जिसके लिए मन, हृदय, भूख आदि को संयमित जीवन का पालन कर परिशुद्ध करके अपना मुक्त स्वरूप देखा जाना अनिवार्य है। पानप ने नैतिक संयम को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। नैतिक संयम के बिना चित्त का विकार-शून्य होना असम्भव है और मुक्ति भी असम्भव है।

### (ख) नैतिक संयम—

नैतिकता एवं सदाचरण के बल पर मानव-समाज की अभीष्ट सिद्धि तथा विकास होता है। प्राचीनकाल में जब मानव सभ्यता की ओर अग्रसर हुआ था तभी से वह आत्मा-संयम की ओर प्रवृत्त हुआ। वेद में नैतिक संयम-सम्बन्धी अनेक उल्लेख पाए जाते है 'ऋतस्य यथा प्रेतः' अर्थात् सत्य के पथ पर चलो। उपनिषदों में सदाचरण पर सर्वाधिक बल दिया गया है। प्रश्नोपषिद् का वचन है—'जो असत्य भाषण करता है वह जड़ से सूख जाता है' [5]। गीता के योगी का स्वरूप नैतिक संयम पर ही आधारित है। वहाँ सभी कामनाओं और वासनाओं का विशेष त्याग तथा मन और इन्द्रिय-संयम करना ही शुभ कहा गया है।

जैन एवं बौद्ध दर्शन का आधार नैतिक संयम ही है। योग-साधना तथा नाथपंथी साधना नैतिकता पर ही आधारित है। सभी धार्मिक ग्रन्थों में नैतिक संयम को सर्वाधिक महत्व दिया गया है।

पानप की सम्पूर्ण साधना नैतिक संयम पर ही प्रधारिता है। अनैतिकता को उन्होंने बड़वानल कहा है जो बाँस के वृक्षों की रगड़ से उत्पन्न होकर उन्हीं को भस्म करता है। अनैतिक अग्नि भी मनुष्य को उसके भीतर प्रविष्ट होकर जलाया करनी है—

नलनी के तोते की भांत, जग सूं राच रहा रे।
बंसा अगन बंस कुल निकसै, पानप आप दहै रे॥ [6]

नामरूपात्मक जगत के अकर्षण को ही, सत्य समझ उसमें मोह, माया, ममता, अहंकार, काम और को आदि द्वारा जीव अपना सर्वनाश ही करता है। अनैतिक कार्य ध्वंसात्मक होते हैं। उनके द्वारा जीवात्मा विध्वंस होता है। इसलिए पानप ने ध्वंसात्मक अनैतिक कार्यो का घोर विरोध किया है। ध्वंसात्मक अनैतिक कार्य-दुविधा, कुसंग, अन्ध विश्वास, बाह्याडम्बर और मूतिपूजा आदि [7]। इन सभी पाखण्डों के आधार पर सत्य धर्म का लोप हो जाता है और अधर्म की सर्जना होती है। समाज की इकाई

1 पानप बानी12.1—(2) वही 15.7 (3) वही 18.11 (4) पानप बोध—1 .17 (5) प्रश्नोपनिषद
(6) पानप बानी—6.9 (7) वही 12.1

व्यक्ति में भी अनेक ध्वंसात्मककार्य होते रहते हैं जिनका प्रभाव समाज पर पड़ता है। व्यक्ति के ध्वंसात्मक अनैतिक कार्य हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, अहंकार, कपट, तृष्णा, मान, अभिमान, निन्दा, आलस्य, कनक, कामिनी असत्य-भाषण, कुवचन, मादक वस्तुओं का सेवन, अभक्ष-भक्षण, हिंसा, घृणा, द्वेष आदि ।

पानप ने इन सभी दोषों से दूर रहने की शिक्षा दी है। काम, क्रोध और तृष्णा के परित्याग किए बिना भगवान् नहीं मिल सकते [1]। वासना में फँसा हुआ मनुष्य विषैले नाग की भांति अंधा होकर अपना अहित करता है [2]। विषय-वासना में लिप्त मनुष्य की दुर्दशा होती है, वह भयभीत एवं व्यग्र रहता है [3]।

दूसरी ओर पानप ने सर्जनात्मक नैतिक संयम को ग्रहण करने की शिक्षा दी है। नैतिक संयम से मानवता का विकास एवं उन्नति होती होती है। सर्जनात्मक नैतिक संयम है-सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, इन्द्रिय-निग्रह, दया, क्षमा, कथनी-करनी का एकत्व, विश्वास, श्रद्धा, विनय, मृदुवचन, धैर्य, स्वावलम्बन, परिश्रम, सरल जीवन, परहित-साधन, सेवाभाव, और साधु-संगति आदि ।

गृहस्थ-जीवन का पालन करता हुआ जो साधक उपर्युक्त नैतिक संयम को अंगीकार करके निरासक्त हो जाता है, उसका हृदय निर्मल हो जाता है । उसकी विवेक-बुद्धि तीव्र एवं सात्विक और उसकी सभी वृत्तियाँ भी सात्विक हो जाती हैं। ऐसा व्यक्ति जो भी कर्म करता है वह सात्विक होता है। शुभ एवं सात्विक कर्म के लिए नैतिक सयम अनिवार्य कर्त्तव्य है ।

## (ग) निष्काम कर्म-

एक लम्बे समय तक पूजा-पाठ, हवन, यज्ञ, सन्ध्योपासनादि को कर्मकांड की संज्ञा दी गई और इन्हें शुभ कर्म कहकर स्वर्ग, सुख आदि की प्राप्ति को ही जीवन का लक्ष्य माना जाता रहा ।

वर्णाश्रम-कर्मों का प्रतिपादन स्मृति-ग्रंथों में किया गया, है जिन्हें स्मार्त कर्म अथवा स्मार्त यज्ञ भी कहते हैं। पौराणिक युग में भी कर्मों की संख्या में वृद्धि हुई। अनिष्ट ग्रहों की शांति के लिए प्रायश्चित जाप आदि को नैमित्तिक कर्म, विशेष धन-सम्पदा, पुत्रादि की प्राप्ति के लिए किए गए जाप, यज्ञादि को काम्य तथा मदिरा पान, मांस-भक्षण जुआ खेलने आदि को निषिद्ध कर्म की संज्ञा दी गई। है

पानप में कर्मों के भेद-प्रभेद नैमित्तिक, काम्य एव निषिद्ध नाम से नहीं पाए जाते। जो कर्म किसी प्राणी द्वारा किया जा चुका है उसका फल उसे भोगना ही पड़ेगा। चाहे कोई भी उपाय करे उसका फल अनिवार्य रूप में भोगना ही होगा [4]। ऐसे निश्चित मत वाले पानप नैमित्तिक एवं काम्य कर्मों करने का परामर्श नहीं दे सकते।

पानप ने शुभ एवं अशुभ कर्मों के सम्बन्ध में अवश्य कहा है-अशुभ कर्म के लिए उन्होंने 'बुरी कमाई' अथवा 'कच्ची करनी' कहा है। शुभ कर्मों में सर्वाधिक महत्व का कर्म बताया है—भक्ति [5]।

कर्म-विपाक के अनुसार कर्मों के संचित प्रारब्ध क्रियमाण-ये तीन भेद हैं। कर्ता के द्वारा वर्तमान क्षण तक किया गया कर्म कहलाता है । इसका फल एक दम नहीं, वरन् नियत क्रमानुसार भोगना पड़ता है । संचित कर्मों के फल-भोग का आरम्भ हो गया होता, है उसी क्षण से कर्म प्रारब्ध हो जाते हैं और जो कर्म अभी किए जा रहे हैं वे क्रियमाण कहलाते हैं।

---

(1) वही 11.8 (2) वही 12.7 (3) वही 10.1 (4) पानप बोध—8.17 (5)वही—1.11

पानप में कर्मों का वर्गीकरण नहीं पाया जाता है । पानप के अनुसार संचित, प्रारब्ध एवं क्रियमाण कर्मों को कर्म नाम से ही जाना जा सकता है [1] ।

आसक्ति मन और उसकी वृत्तियों का विकार है । मन को कर्म–फल–प्राप्ति की आशा से निरासक्त करके कर्म करना निष्काम कर्म है । गीता में फलाशा या परित्याग कर निस्संग बुद्धि से किए गए कर्म को बंधन–रहित, दुःख-विरहित कहा है । मन के समस्त काम एवं वासनाओं का परित्याग करके आत्मा में सतुष्ट रहने वाले साधक को स्थितप्रज्ञ कहा गया है ।

जो पुरुष सब काम आसक्ति, ममत्व, अहंकार आदि का परित्याग करके निस्पृह रहते हुए निष्काम कर्म करता है उसे चिर शांति मिलती है । अन्य को नहीं । पानप गृहस्थ साधक थे । उन्होंने कभी भी गृहत्याग की बात नहीं कही । गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए जगत् में रहते हुए, जगत् के सभी नाम रूपात्मक विषयों में आसक्ति न रख कर निरन्तर लोक-कल्याणार्थ कार्य करना ही जीवन का उद्देश्य है, ऐसा पानप का मत है ।

पानप लोक-कल्याणार्थ निष्काम कर्म करने के पक्ष में हैं । उन्होंने निष्काम सेवा-भाव की भूरि-भूरि प्रशंसा की है अपने शरीर तथा परिवार आदि की रक्षा एवं स्थिति के लिए ही निष्काम कर्म करना उपयुक्त नहीं वरन् परहित साधन के लिए दूसरों के कल्याण के लिए किया गया कर्म ही निष्काम कर्म है [2] ।

पानप का निष्काम कर्मयोगी लोक-कल्याणार्थ कर्म करना भगवद् भक्ति ही समझता है क्योंकि भगवान् का वास सभी में है, सेवक और सेव्य में भी, [3] अतः लोक सेवा से भगवान् की ही सेवा होती है ।

सकल विश्व के सभी प्राणि—स्त्री–पुरुष, लँगड़े पंगु सब हमारा ही स्वरूप हैं। गुरु कहो या पीर कहो, राम कहो या खुदा कहो सब एक समान है; अतएव बिना किसी भेद-भाव सभी की सेवा करना ही सत्कर्त्तव्य है ।

सेवा एवं परहित-साधन को सत्कर्त्तव्य समझ कर ही करना चाहिए । परहित-साधन में दुःख, अपयश आदि की चिन्ता नहीं करनी चाहिए । पानप का मत है कि सच्चे हितैषी जन-सेवक को सुख-दुःख, यश-अपयश की चिन्ता नहीं होती [4] । सेवा-कार्य में जो सुख और दुःख को समान भाव से देखताहै और दुःख में भी सुख मानता है उसी सेवक को सेवा करते हुए सुख और आनन्द मिलता है ।

सच्चा सेवक तो परहित–साधन में लिप्त रहता है । वह यश-अपयश, भला-बुरा किसी भी बात की चिन्ता नहीं करता । सेवा-कार्य को ही वह कर्म समझता है और उसी में लिप्त रहता है । ऐसे भाव से की गई सेवा सच्ची सेवा है और भगवान् की भक्ति है ।

पानप निष्काम भाव से परहित-साधन के कार्यों में लगने वाले कर्मयोगी को श्रेष्ठ समझते हैं । पानप का सच्चे सेवक के लिए उपदेश है कि सभी प्राणियों में हरि व्याप्त है, इस बात को ध्यान में रखते हुए तन, मन, धन तथा अपने सभी साधनों के साथ सच्चे सेवक को सेवा-कार्य में संलग्न होना चाहिए । सेवा-कार्य से उसका ध्यान डिगना नही चाहिए [5] । अनेक बाधाओं के उपस्थित होने पर भी सेवा-पथ से जन-सेवक को विचलित नहीं होना चाहिए ।

पानप का जन-सेवक से सम्बद्ध यह विचार गीता से मिलता-जुलता हैं । लोक-संग्रहार्थ निष्काम कर्म करने वालों को गीता का आदेश है—

(1) पानप बानी—18.21 (2) वही—5.27 (3) वही—8.31 (4) पानप बानी—21.6
(5) वही—8.19

"लोक-संग्रह करने की इच्छा रखने वाले ज्ञानी पुरुष को ग्रासवित त्याग कर उसी प्रकार निष्काम कर्म करना चाहिए जिस प्रकार कर्म में ग्रासक्त ग्रज्ञानी लोग वर्ताव करते हैं [1]।

निष्काम कर्म-योगी जीवन के किसी भी क्षेत्र में विषमता को देखकर चुपचाप नहीं बैठ सकता । लोक-कल्याण की तीव्र भावना उसे विषमता को दूर करने के हेतु निष्काम कर्म करने की प्रेरणा देती है।

सभी धर्मों को सभी सम्मुदायों को निष्काम संत समान भाव से देखता है। सब की उत्तम शिक्षाग्रों को ग्रहण करता है ग्रौर बाह्योपचार का खडन तथा उसका परित्याग करता है। निष्काम कर्मयोगी की सच्ची धर्म भावना होती है।

सत्य धर्म का पालन करने वाला, निष्काम ज्ञानी संत जगत के विषयों से दूर रहता है, उनमें ग्रासक्ति नहीं रखता सब के साथ दया, क्षमा सहानुभूति के साथ व्यवहार करता है, सभी की अन्तरात्मा में भगवान् को देखता है ग्रौर सब को ग्रपने समान समझता है। मान-ग्रपमान का परित्याग करके सब से मृदुवचन बोलता है । पानप के ग्रनुसार ऐसे हो संत को चरम सत्य ग्रथवा भगवान् का साक्षात्कार होता है [2]।

धार्मिक एवं सामाजिक साम्य की स्थापना के उपरान्त भी पारस्परिक कलह का स्थान रह जाता है । वह स्थान है ग्रार्थिक ग्रसमानता । एक ग्रोर ऊँचे-ऊँचे भवन, वैभवशाली महल ग्रौर दूसरी ग्रोर कच्चे, फूंस से छाए गए झोपड़े। यह ग्रार्थिक ग्रसमानता भी समाज में विषमता द्वेष, लोभ, मोह एवं क्रोध ग्रादि का विस्तार करती है। पानप का निष्काम कर्मयोगी ग्रार्थिक असमानता दूर करने की चेष्टा करता है [3]।

पानप का मंतव्य है कि धनहीन तथा धनवान का भेद भाव व्यर्थ है। दोनों ही परस्पर भाई-भाई हैं, एक ही भगवान् की संतान हैं। निर्धन उसे ही कहा जा सकता है जिसके हृदय में भगवान् का ध्यान न हो। माया, मोह में फस कर धन की लिप्सा में लिप्त होकर घमंड करना व्यर्थ है । सबको समान भाव से देखना, परस्पर सहानु भूति पूर्ण व्यवहार करना ही श्रेयस्कर है [4]।

ग्रार्थिक साम्य के उपरान्त पानप का निष्काम कर्मयोगी राजनीतिक विषमता की ग्रोर ध्यान देता है क्योंकि राजनीतिक वैषम्य की विभीषिका सबसे भयंकर है। महायुद्ध, परस्पर के ग्राक्रमण, नरसंहार एव शोषण ग्रादि का प्रादुर्भाव राजनीतिक असमानता के परिणाम हैं [5]। निष्काम कर्मयोगी पानप ने सत्ता के मद में चूर रहने वालों को सब के साथ सद्भावना पूर्ण व्यवहार करने का उपदेश दिया है। नश्वर संसार का एक दिन परित्याग करना ही है ग्रतएव इस बात का ध्यान रखते हुए सब के साथ सद्व्यवहार ही करना चाहिए ।

ग्रमित सम्पदा वाले शहंशाह, सत्ताधारी राजा-महाराजा यदि प्रजा के हित का चिंतन नहीं करते ग्रौर प्रजा के कल्याणकारी कार्यों में धन का प्रयोग नही करते ग्रौर राजकोष का ग्रधिकांश ग्रपने ही उपयोग के लिए खर्च करते हैं, पानप की दृष्टि में वे कृपण हैं, उनके खजाने वृथा ही हैं [6]।

इस भांति मानव-समाज को मानवों के योग्य बनाने का भार निष्काम कर्मयोगी के कंधों पर होता है। धार्मिक सामाजिक, राजनीतिक तथा ग्रार्थिक साम्यावस्था लाकर विषमता तथा ग्रसमानता का निराकरण किया जाना लोक-कल्याण है ।

निष्काम कर्मयोगी को लोक-संग्रहार्थ ये कर्म

(1) गीता—3.24 (2) पानप बोध—1.8 (3) वही—5.7 (4) पानपबानी—12.7 (5) वही 18.1 (6) वही—14.16

भगवान को समर्पित कर देने चाहिए पानप ने समाज के मध्य रहते हुए, निष्काम कर्म में लिप्त, निरासक्त जीवन-यापन की स्थिति को 'उनमन' कहा है [1]। गीता में इसे ब्राह्मी स्थिति कहा गया है—'जो पुरुष सब काम अर्थात आसक्ति का परित्याग करके तथा निस्पृह होकर सद्व्यवहार करता है जिसे ममत्व और अहंकार नहीं होता उसे चिरशांति मिलती है, तथा-''हे पार्थ । ब्राह्मी स्थिति यही है । इसे पा जाने पर कोई भी मोह में नही फसता और अन्तकाल में ब्रह्म में मिल जाने के पर का मोक्ष पाता है [2]।

निष्काम कर्मयोगी की सिद्धि से सभी विभेद लुप्त हो जाते हैं । द्वैत का अभाव हो जाता है। एकत्व की सिद्धि जाती है। सभी भूतों में एक आत्मा है, कर्मयोगी इसे परखने में समर्थ हो जाता है, उसकी वासना शुद्ध हो हो जाती है। इस प्रकार वासनात्मक बुद्धि के शुद्ध, सम, निर्विषय, निर्वैर हो जाने पर फिर वह कोई भी पाप या मोक्ष के लिए बन्धक कर्म कर ही नहीं सकता. वह मुक्त हो जाता है ।

पानप अपने शुद्ध-बुद्ध, मुक्त स्वरूप को पहचानना जीवनोद्देश्य बताते हैं [3]। इस लक्ष्य की प्राप्ति निरासक्त होकर प्राणी मात्र के कल्याणार्थ कर्म करने से होती है । द्वैत, असमानता एवं विषमता का परित्याग एवं आत्म-विश्वास के साथ सब में अपना स्वरूप देखना अथवा आत्म प्रतीति की प्राप्ति होती है। आत्म-प्रतीति का अर्थ है-सब प्राणियों में प्रीति । सब प्राणियों में प्रीति के द्वारा नानात्व का भाव नष्ट हो जाता है और एकत्व की सिद्धि हो जाती प्रीति अथवा प्रेम सब को एक सूत्र में बांधता है। दाम्पत्य प्रेम, परिवार-प्रेम, देश-प्रेम, विश्व-प्रेम, सब में प्रेम के द्वारा मनुष्यत्व की परिधि विशाल होती जाती है ।

सार्वभौमिक प्रेम के द्वारा सकल विश्व प्रेममय हो जाता है, प्रेम अथवा प्रीति के सन्मुख भय लड़खड़ा जाता है। प्रेम के द्वारा जो सभी प्राणियों का कल्याण करता है वह अपने मुक्त स्वरूप का दर्शन कर पाता है ।

प्रेम का शुद्ध स्वभाव है स्वाधीनता । मुक्त स्वभाव ही शुद्ध-बुद्ध स्वाधीन स्वभाव है, यही आत्मा का स्वरूप है और यही है परम सत्य, चरम सत्य ।

मनुष्य का सत्य स्वरूप अद्वैत अनन्त, शुद्ध-बुद्ध नित्य मुक्त है। यह मुक्त स्वभाव किसी बाहरी वस्तु से प्रभावित नहीं होता, इसे निर्लेप निर्विकार, निर्गुण भी कहते हैं। यही ब्रह्म-स्वरूप है, यही आत्मस्वरूप है, यही मुक्ति है और यही है मोक्ष ।

निष्काम कर्मयोगी पानप ने आजन्म परहित-साधन करके मुक्त स्वभाव वाली स्थिति प्राप्त की थी । वे निस्संग, निर्वैर, निस्पृह एवं निरासक्त कर्मयोगी थे । शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव की प्राप्ति पर पानप की भांति कबीर ने भी कहा है—

आपै मैं तब आपा निरष्या, अपन मैं आपा सूझया ।<br>
आपै कहत सुनत पुनि अपनां, अपन पै आपा बूझया ।।<br>
आपनैं परचैं लागी तारी, अपन मैं आप रमांनां ।<br>
कहै कबीर जे आप विचारै, मिटि गया आंवन जाना ।।

निरुद्देश्य एवं भीरु जीवन ही नश्वर, क्षण-भगुर एवं मिथ्या है आत्मविश्वासी चरम लक्ष्य-पूर्ण, निरासक्त जीवन है, स्वाधीन जीवन है तथा अमर जीवन है। मुक्त स्वभाव, शुद्ध-बुद्ध स्वभाव को प्राप्ति पर मृत्यु-भय रहता ही नहीं और इसीलिए आना अथवा जाना भी नष्ट हो जाता है, इस भय से मुक्ति हो जाती है और इसीलिए इस स्थिति को मुक्तदशा कहा जाता है ।

● गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर

1 गीता—2.71 तथा 72 (2) पानपबानी—12.9 (3) वही 12.19 (4) सम्पादक श्याम सुन्दर दास—कबीर ग्रंथावली पृ० 80

# हिन्दी उपन्यास के विकास में प्रेमचन्द का स्थान

कुमारी अनिशा महाजन

हिन्दी उपन्यास परम्परा में प्रेमचन्द एक ऐसे महान उपन्यासकार के रूप में अवतरित हुए जिनके दोनों ओर उपन्यास साहित्य की भिन्न–भिन्न रेखाएं विस्पष्ट रूप से उभरी हुई हैं, वे ऐसे केंद्रबिन्दु हैं, ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं जिन्होंने हिन्दी उपन्यास परम्परा को एक नई दिशा और नया मोड़ दिया । अपनी अपूर्व प्रतिभा से वह धरती का सम्पूर्ण रस लेकर एक वटवृक्ष के समान इतनी व्यापकता से फैले कि उनके हाथों में पड़कर हिन्दी उपन्यास सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति का साधन बना । उनमें एक तपस्वी की साधना थी , महाकाव्यकार की व्यापक जीवनानुभूति थी, कुशलचितेरे की रूप विधायिनी कला थी । उन्होंने जीवन को अत्यधिक निकट से जाना था और स्वयं संघर्षों के बीच से गुजरकर, परिस्थितियों के थपेड़े सहकर, समाज के विष को पचाकर साहित्य में शिव की प्रतिष्ठा की तथा अपने युग को इतना प्रभावित किया कि वह अपने पूर्व एवं बाद के युग से हर दृष्टि से भिन्न दिखाई पड़ता है । इस विषय में राजेश्वर गुरु का कहना है—कलाकार प्रेमचन्द उस राहगीर के समान हैं जो अपने करीब से गुजरते हुए विशाल देश की जिन्दगी के कारवां को देखता है, उसकी आशा-अकांक्षा को बूझता है, उसके पाप-पुण्य की व्याख्या करता है, उसकी दुर्बलता की दयनीयता और सबलता की सामर्थ्य व्यक्त करता है और जीवन की इस महान् महफिल में 'मानवाय नमः' कहकर चुप हो जाता है । ''

मुंशी प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी उपन्यास साहित्य पाठकों के मनोरंजन की वस्तु था, उनके मन–बहलाव का खिलौना था । जिस प्रकार जीवन के प्रारम्भ में बालक का संसार खिलौनों तक ही सीमित रहता है उसी प्रकार प्रेमचन्द के पूर्व का उपन्यास साहित्य, मनोरंजन तथा मन–बहलाव का सामान जुटाने में अथवा नीति–शिक्षा देने में अपने आप को सफल मनोरथ समझ रहा था उसका जन–जीवन से कोई सम्बन्ध न था । यह प्रेमचन्द की ही प्रतिभा थी कि उन्होंने जीवन और कला का सन्तुलित सामंजस्य अपने मौलिक एवं उत्कृष्ट उपन्यासों में उपस्थित किया ।

आलोचक तो हिन्दी उपन्यास को 1801 से आरम्भ हुआ मानते हैं जब हमें इन्शाह अल्लाहखां की 'रानी केतकी की कहानी' प्राप्त हुई । ' एक था राजा एक थी रानी' की परम्परा में इन्शाह ने ऐतिहासिक दृष्टि से एक महत्वपूर्ण रचना हमें दी । 1877 में पं० श्रद्धाराम फिलौरी की एक महत्वपूर्ण कृति 'भाग्यवती' सामने आई लेकिन उपन्यास के तत्वों को सामने रखते हुई रामचन्द्र शुक्ल ने 1882 में प्रकाशित श्री निवासदास के 'परीक्षा गुरु' उपन्यास को हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास माना है । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भारतेन्दु के 'पूर्णप्रकाश' और चन्द्रप्रभा को सब से पहला उपन्यास मानते हैं। लेकिन जो भी हो प्रेमचन्द पूर्व के उपन्यासों में या तो समाज सुधार की प्रवृत्ति थी या तिलस्मी जासूसी प्रवृत्ति । बालकृष्ण भट्ट, गोपालराम गहमरी, देवकीनन्दन खत्री, ब्रज नन्दन सहाय आदि पूर्व –प्रेमचन्द युग के प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं परन्तु यदि यह कहा जाय कि प्रेमचन्द के दिशा–परिवर्तन ने 'हिन्दी उपन्यास साहित्य' की काया ही पलट दी तो अत्युक्ति न होगी ।

इनके उपन्यासों में विशाल जन–जीवन और उसकी अनेक मुखी–समस्याए कलात्मक रूप से प्रतिबिंबित हुई हैं । तात्पर्य यह है कि अपने युग की सभी प्रकार की परिस्थितियों का परिचय प्रेमचन्द के उपन्यासों में

उपलब्ध है। यही कारण है कि उन्हें उपन्यास सम्राट कहा जाता है । आधुनिक उपन्यास की सब से बड़ी विशेषता मानवतावादी दृष्टि एवं यथार्थ की अनुभूति का पूर्ण परिपाक प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलता है । इन्द्रनाथ मदान के शब्दों में "प्रेमचन्द ऐसे कथाकार हैं, जिन की कृतियों में इनके युग की सामाजिक अवस्था का यथार्थ चित्रण मिलता है" ।

उपन्यास रचना के क्षेत्र में प्रेमचन्द ने जो श्रेष्ठता प्राप्त की है । इसका कारण सुझाते हुए डा० नगेन्द्र ने उनकी 'व्यापक सहानुभूति' की ओर सकेत किया है । इस व्यापक सहानुभूति का यदि विश्लेषण किया जाए तो ज्ञात होगा कि प्रेमचन्द की इस विशिष्ट मनोवृत्ति के पीछे उनका सम्पूर्ण जीवन-दर्शन है । प्रेमचन्द को मानव मात्र से प्रेम था । मानवता के इस पुजारी के लिए धर्म-सम्प्रदाय वर्ण-जाति तथा वर्ग-भूखण्ड की सीमाएं निष्प्रयोजन थीं इस मानव प्रेम के आगे उनके किए धन, कुलीनता और श्रेष्ठता की चमक-दमक फीकी पड़ गई थी इसी मानवमात्र के प्रेम धरातल पर खड़े होकर इन्होंने जो चित्र खींचे हैं, उनमें इसी कारण गहराई है, सच्चाई है और व्यापकता है । यह मानव प्रेम ही वस्तुत: उनकी 'व्यापक सहानुभूति' का मूल कारण है और इसी विशुद्ध प्रेम से उनकी रचनाएं सिक्त हैं ।

मानव के प्रति प्रेम के कारण ही उन्होंने मानव की दुर्बलताओं और कमजोरियों को सहिष्णुतापूर्ण दृष्टिकोण से देखा और उसकी अच्छाइयों और सद्वृत्तियों के प्रति अपना विश्वास डिगने नहीं दिया । मानव के प्रति इस अगाध विश्वास की झलक हमें उसके पात्रों के जीवन में स्पष्ट दिखाई देती है । उनके अनेकानेक पात्र जीवन में कमजोरियों से जूझते हैं और आदर्श के अनुसार आचरण करते हुए अन्त में अपनी दुर्बलताओं पर विजय पा लेते हैं । 'सेवासदन' की सुमन और गजाधर पाण्डे, 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर, इर्फान अली, डा० प्रियनाथ; 'गबन' की जालपा, 'कायाकल्प' की रानी देवप्रिया, राजा विशालसिंह आदि के चरित्र विकास में उन्होंने मानव के अन्दर विद्यमान दैवी अंश का उद्घाटन करके इन्हें आदर्शवादी भी बना दिया है । उन्होंने मानव-मात्र के दुःख-सुख, हर्ष-शोक में हिस्सा बटाते हुए उनके प्रति अपनी प्रगाढ़ सहानुभूति व्यक्त है ।

प्रेमचन्द एक सुधारक के रूप में भी हमारे सामने आते हैं । समाज के द्वारा व्यक्ति के दमन की तरफ भी उनकी दृष्टि गई और उन्होंने अपने उपन्यासों में इस दमन के स्वरूप एवं इसके भूलभूत कारणों के विश्लेषण का प्रयास किया 'गोदान' का गरीब होरी भी अपने आप को सामाजिक मर्यादायों में बंधा हुआ पाता है । उसके घर में दो जून खाने को कुछ न था परन्तु जब वह झुनिया को अपने घर में रख लेता है तो बिरादरी का दण्ड भरने को तैयार हो जाता है ।

प्रेमचन्द की वस्तुविन्यास प्रणाली कम प्रभावशाली नहीं । भाषा का बहाव, शब्दों का चयन, भावनाओं का मनोवैज्ञानिक ढग से प्रकटीकरण, समाज की शोचनीय दशा का वास्तविक चित्रण, करुणा की पुकार, किसानों की दीन-दशा, सरकारी कर्मचारियों के अत्याचार, उच्च वर्ग की बाहरी चमक-दमक, चहल-पहल, आमोद-प्रमोद के नीचे दबे हुए उनके स्वार्थ, संघर्ष, आशा, आकांक्षा एवं व्यक्तिगत समस्याओं के उद्घाटन का प्रयास किया गोदान के राय साहब, मिल-मालिक खन्ना ऐसे ही पात्र हैं। इनके पात्र किसी विशेष का प्रतिनिधित्व न करके अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं । इन्होंने एक होरी के माध्यम से हजारों किसानों का और एक राय साहब के माध्यम से सैकड़ों जमीदारों का चित्रग किया । यही कारण है कि उनके पात्र सब के लिए समान रूप से ग्राह्य हैं ।

प्रेमचन्द की सफलता का विशेष कारण उनका चरित्र-चित्रण भी है। इन्होंने पात्रों के मनोभावों. बाहरी जीवन के साथ-साथ, उनके आन्तरिक भावों की हीन-क्षीण दशा, अन्तर्द्वन्द्वों का सजीव चित्रण किया है। यथार्थ चरित्र दृष्टि द्वारा हिन्दी उपन्यास परम्परा को विश्वसनीयता प्रदान करने वाले प्रेमचन्द प्रथम लेखक थे इन्होंने पात्रों के रूप-रंग, बोलचाल, कार्य-प्रणाली मनोदशा रहन-सहन सब का इतना जीवंत वर्णन किया है कि हमें वास्तविकता का भ्रम हो जाता है। परिस्थितियों के घात-परिघात से दले हुए इनके चरित्र मानव-सौन्दर्य की सीमा के प्रतीक हैं। 'रंगभूमि' का सूरदास, 'गोदान' के होरी तथा धनिया, 'निर्मला' की नायिका निर्मला, प्रेमचन्द की अमर सृष्टि है।

प्रेमचन्द के 'गोदान' में स्वस्थ यथाथवाद के दर्शन होते हैं। रूसी लोग तो यह मानकर चलते हैं कि प्रेमचन्द ही प्रथम यथार्थवादी उपन्यासकार हैं। 'गोदान' में नोहरी का प्रसंग, मालती-खन्ना का रोमांस, धर्म का ढकोसला, और अनेक घटनाएं यथार्थवादी यथातथ्य शैली में प्रस्तुत की गई हैं। उदाहरण के लिए सिलिया और मथुरा के प्रसंग को हम ले लेते हैं। सिलिया सोना को अपनी खुशहाली सुनाने रात के समय उसके घर जाती है। अंधेरे में घर के आँगन में मथुरा सिलिया से मिलता है। उसकी मानवीय दुर्बलता का प्रेमचन्द ने बहुत ही यथार्थ वर्णन किया है परन्तु प्रेमचन्द पाठक का मानसिक पतन नहीं चाहते, इस कारण उन्होंने इस घटना का वर्णन करते समय संयम नहीं खोया और यहीं से उनकी आदर्शवादी दृष्टि स्पष्ट हो जाती है यही कारण है। कि उनके उपन्यासों में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद रहता है।

प्रेमचन्द युग के अन्य प्रतिभाशाली लेखक प्रसाद, वृन्दावनलालवर्मा, बाबू प्रतापनारायण आदि हैं तथा प्रेमचन्दोत्तर युग में सब से महान लेखक जैनेंद्र कुमार। मानोविश्लेषन-प्रधान उपन्यासकारों में जैनेन्द्र के अतिरिक्त इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय आदि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त साम्यवादी विचार धारा पर आश्रित उपन्यासकारों में यशपाल का नाम प्रसिद्ध है। 'दादा कामरेड' 'देश-द्रोही, 'झूठा-सच' इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। डा० रांगेय राघव, अश्क, नागार्जुन, नागर आदि भी प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। इनका उद्देश्य जीवन की यथार्थता को चित्रित करना है। इसके अतिरिक्त प्रेम, वासना जातिगत, धर्मगत रूढ़ियों एंव धाराओं को नए सिरे से विवेचन करने में इन कलाकारों ने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। लेकिन यदि हम ध्यान से देखें तो पायेंगे कि इन लेखकों ने जिन समस्याओं का चित्रण किया है उनको (समस्याओं को) प्रेमचन्द पहले ही अपने उपन्यासों में उठा चुके हैं। हिन्दी उपन्यास साहित्य में मनोविश्लेषण-वादी उपन्यासों की धारा अवश्य चली परन्तु इन उपन्यासकारों ने जैसे नारी पात्रों का चित्रण किया है वैसे अन्य नारी पात्र मिलना कठिन है। उदाहरणार्थ 'दादा कामरेड' की शैल, 'नदी के द्वीप' की रेखा' 'सुनीता की सुनीता जैसे नारी पात्र विशेष कर भारतीय समाज में मिलने कठिन हैं। इस प्रकार हम कह कह सकते हैं कि यह उपन्यासकार प्रेमचन्द से ऊंचे नहीं क्योंकि 'गोदान' की मालती एव गोविन्दी और 'निर्मला' की निर्मला का चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक ही है, अन्तर सिर्फ इतना है कि इन्होंने (प्रेमचन्द ने ) किसी धारा विशेष का ठप्पा नहीं लगाया। 'वृन्दावन लाल वर्मा' भी प्रेमचन्द से ऊंचे नहीं कहे जा सकते क्योंकि उन्होंने बीते समय की घटनाओं को लेकर उपन्यास रचना की है और साथ ही जिस यथार्थ को उपन्यासकारों ने स्वयं नही भोगा उसका चित्रण करना कहां तक उचित है! 'प्रसाद' आदि ने भी अन्य समस्याओं के साथ किसान समस्या को अपने उपन्यासों में उठाया परन्तु इनका इस जीवन की आन्तरिकता से गहन परिचय न होने के कारण यह एक प्रकार से करुण रोमांस तक ही सीमित होकर रह गए। धर्मवीर भारती, राजेन्द्र यादव का नाम आज के

उपन्यासकारों में प्रसिद्ध हैं परन्तु 'भारती' का 'गुनाहों का देवता' गुलशन नन्दा मार्का उपन्यास ही है ।

इस प्रकार हिन्दी उपन्यासों के संक्षिप्त विकास के अध्ययन से स्पष्ट है कि प्रत्येक तत्त्व की दृष्टि से इस विकासक्रम में प्रेमचन्द का अद्भुत योगदान है और वह हमारे उपन्यास साहित्य को प्रौढ़ता के सोपान पर ले जाने वाले सर्वप्रथम उपन्यासकार हैं । वह हिन्दी के ही नहीं बल्कि समग्र भारतीय साहित्य के श्रेष्ठ प्रगतिशील साहित्यकार हैं । उन्होंने हमारे कथा साहित्य को नया जीवन-वादी मोड़ प्रदान किया । समूचे हिन्दी साहित्य ने करवट ली । आधुनिक काल में, प्रेमचन्द की रचनाओं का जितना प्रभाव जनजीवन पर पड़ा है उतना शायद ही किसी अन्य भारतीय साहित्यकार का पड़ा हो । इन्हीं विशेषताओं के कारण इनके साहित्य पर इनके व्यक्तित्व की ऐसी छाप लग गई है कि जिसका प्रभाव सदा बढ़ता रहेगा । राजेश्वर गुरु का यह कथन कितना ठीक है–'प्रेमचन्द के कथन में पाण्डित्य की गम्भीर विरसता नहीं है, अनुभूति की सरल सरसता है । उनके वर्णनों में मुग्ध द्रष्टा की सजीव सूक्ष्मता है और उनकी वाणी गांव के कच्चे किनारों के बीच इठलाती हुई गीली–माटी की सोंधी सुरभि से भरी हुई नदी की बेरोकटोक धारा के समान है ।"

एम० ए० (पूर्वार्ध)
स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग,
जम्मू विश्वविद्यालय

## हिन्दी

हिन्दी भाषा नहीं, वाणी है । वाणी शासन की नहीं, जन-जन की । वाणी तन की नहीं, मन की । वाणी अधिकार की नहीं, प्यार की । यह अधिकार की भाषा नही, राष्ट्र के सुख-दुख की अभिव्यक्ति है । सन्तों की अनुभूति है । राष्ट्र का स्वर है । हिन्दी भाषा नहीं, नाद है । जो कबीर ने अनहद के रूप में व्यक्त की थी और मैथिलीशरण तथा प्रेमचन्द द्वारा भारत-भारती के रूप में सर्वत्र प्रचारित हुई ।

हिन्दी राजाओं की बोली नहीं, सन्तजनों की झोलीं का प्रसाद है ।

(हिन्दी परिचय से साभार)

# प्रसाद और दिनकर की नारी-भावना

## (कामायानी और उर्वशी के आधार पर)

कु० सुषमा

'कामायनी' और 'उर्वशी' छायावादी युग की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ है। दोनों महाकाव्य नायिका-प्रधान हैं तथा दोनों में नारी-जीवन के विविध प्रश्न उठाकर के उत्तर खोजने की चेष्टा की गई है। नारी की भावनाओं की सुन्दर अभिव्यंजना इन काव्यों की विशेषता है। 'कामायनी' और 'उर्वशी' के अध्ययन के पश्चात यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि प्रसाद और दिनकर ने नारी के प्रेयसी, पत्नी और मां--इन तीन मुख्य रूपों का चित्रण कर के आदर्श नारीत्व की परिकल्पना प्रस्तुत की है।

ये दोनों महाकाव्य प्राचीन पौराणिक आख्यानों पर आधारित होते हुए भी वर्तमान युग-जीवन की चेतना के महद्घोष हैं। उर्वशी-पुरूरवा एव श्रद्धा-मनु की कथाएं भारतीय संस्कृति की प्राचीन धरोहर है। भारतीय वाङ्मय का एक बहुत बड़ा भाग इन कथाओं से जुड़ा हुआ है।

दिनकर ने उर्वशी, औशीनरी और सुकन्या के माध्यम से अपनी नारी-सम्बन्धी विचारधारा को परिपक्व और सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया है। 'उर्वशी' में मुख्यतः इन्हीं तीन नारी-पात्रों के माध्यम से नारी के विविध रूप मुखरित हुए हैं।

प्रसाद की भारतीय नारी के सम्बन्ध में एक विशेष प्रकार की उदात्त कल्पना थी जो 'कामायनी' में श्रद्धा और इड़ा के चरित्रों द्वारा स्पष्ट हुई है। अपने हृदय के समस्त स्नेह, ममत्व, विश्वास, लावण्य इत्यादि को एकत्र करके कवि ने श्रद्धा के चित्रण में इन का प्रयोग किया है। यही कारण है कि 'कामायनी' की श्रद्धा एक उदात्त आदर्श पर दृढ़ रहने वाली कमनीय नायिका है।

### कथा-स्रोत:-

'कामायानी' और 'उर्वशी की कथा ऐतिहासिक होते हुए भी प्राचीन पौराणिक ग्रन्थों पर आधारित है। डा० विनय-कुमार 'कामायनी' और 'उर्वशी' की कथा में समानता बतलाते हुए लिखते हैं :-

'स्थूल रूप से 'कामायनी' मनु, श्रद्धा और इड़ा की कथा है, किन्तु सूक्ष्म रूप से यह कथा मानव की अनेक मनोवैज्ञानिक समस्याओं का विश्लेषण करते हुए मानव विकास की कथा बन गई है। 'उर्वशी' स्थूल रूप से पुरूरवा और उर्वशी की कथा है किन्तु सूक्ष्म रूप से यह कथा आन्तरिक रहस्यों का उद्घाटन करते हुए पुरुषार्थ चतुष्टय में मोक्ष के विधान तक पहुँचती है।''

प्रसाद ने 'कामायनी' में आदिम पुरुष मनु को कथा का नायक बना कर उसके माध्यम से जीवन के बिखराव और असतुलन में सामंजस्य स्थापित कर आनन्द लोक में सामरस्य-प्राप्ति का संदेश दिया है। 'उर्वशी' का पुरूरवा नागरिक सभ्यता का प्रतीक है और इस के माध्यम से दिनकर ने आधुनिक सभ्यता की दुविधा के मध्य भाग की चरम स्थिति के उपरान्त आत्मज्ञान के आलोक से मण्डित सन्यास में भारत धर्म का आख्यान प्रस्तुत किया है।

पौराणिक गाथाओं में मनु और पुरूरवा एक दूसरे के पर्याय बन कर भी प्रयुक्त हुए हैं। ऋग्वेद के एक सूक्त 'मानवेद्यामबाशयः, में पुरूरवा और मनु की एकता व्यंजित है। एक अन्य मन्त्र में इड़ा को उर्वशी भी कहा गया है। मनु ऐतिहासिक राजा के रूप में प्रजापति मन है। 'कामायनी' में यह रूपक बहुत दूर तक चलता है। सामाजिक धरातल पर पुरूरवा राजा है और उर्वशी उस की प्रेयसी। रूपक में वे सनातन पौरुष और नारीत्व के प्रतीक हैं, जिन के संयोग से आयुरूप सन्तति का विकास

होता है। प्रसाद के रूपक का निर्वाह मनस्तत्व के विवेचन से सिद्ध है, दिनकर के रूपक का निर्वाह शाश्वत् प्रकृति–पुरुष की क्रीड़ा में व्यक्त है।

'कामायनी' से प्राप्त प्रेरणा की ध्वनि हमें स्वयं 'दिनकर' के निम्नलिखित शब्दों में मिलती है :–"इस दृष्टि से मनु और इड़ा, तथा पुरूरवा और उर्वशी-ये दोनों ही कथाएँ एक ही विषय को व्यंजित करती हैं। सृष्टि-विकास प्रक्रिया के कर्त्तव्य–पक्ष का प्रतीक मनु और इड़ा का आख्यान है, उसी प्रक्रिया का भावना–पक्ष पुरूरवा और उर्वशी की कथा में कहा गया है।"

किन्तु यह सब कह देने के पश्चात् भी यह निर्णय नहीं दिया जा सकता कि 'दिनकर' और 'प्रसाद' ने अपने काव्यों में पूर्णतया प्राचीन पौराणिक ग्रन्थों का ही आश्रय लिया है, वास्तविकता यह है कि उन्होंने आवश्यकतानुसार परम्परा से प्राप्त इन कथाओं में नूतन उद्भावनाएँ प्रस्तुत की। रम्भा, सहजन्या, मेनका और इड़ा के माध्यम से आधुनिकाओं की आलोचना तथा नारी के मातृत्व को यशोमण्डित करने के प्रयास किये गये हैं। औशीनरी, मदनिका, निपुणिका, श्रद्धा के द्वारा नारी को सिद्धि का प्रतिरूप दिग्दर्शित करना तथा सुकन्या, औशीनरी और श्रद्धा के माध्यम से पत्नी के श्रेष्ठ धर्म तथा नारी के महत्त्व का वर्णन करना दिनकर और प्रसाद जैसे कवियों की मौलिक देन है।

दिनकर का उद्देश्य इस काव्य में केवल उर्वशी–पुरूरवा विषयक इतिवृत्त को काव्यबद्ध करना नहीं था उनका लक्ष्य इस कथानक के माध्यम से स्त्री–पुरुष के शाश्वत प्रेम–सम्बन्ध को उच्चता के शिखर पर रख कर चित्रित करना था। यही कारण है कि उन्होंने उन सब नूतन प्रसंगों की उद्भावना की है जो मुख्यतः स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण, उनकी मनः स्थिति आदि को दिखाने में अधिक सहायक रहे हैं। इसी प्रकार प्रसाद ने 'कामायनी' में श्रद्धा और इड़ा के माध्यम से नारी के आदर्श और यथार्थ रूप को चित्रित किया है। जहाँ श्रद्धा एक ओर त्याग, दया, ममता और आस्था की प्रतीक है इड़ा वहाँ तर्क–वितर्क-प्रवीण अत्यन्त बुद्धिवादी एवं व्यक्तिवादी है।

## सौन्दर्य–बोध :

दिनकर और प्रसाद और दोनों ने नारी के बाह्य और आन्तरिक सौन्दर्य का चित्रण प्रस्तुत किया है। ये दोनों कवि सौन्दर्य के अधिष्ठान को मुख्य रूप से नारी में मान कर चले हैं।

'कामायनी' में प्रसाद ने श्रद्धा के शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण बड़े ही सुन्दर सूक्ष्म रूप में हुआ है। श्रद्धा के रूप वर्णन में कवि की सौन्दर्य-भावना पूर्ण स्वच्छन्दता के साथ मुखरित हो उठी है :—

"नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ घन बीच गुलाबी रंग।"

अन्य छायावादी कवियों की भांति प्रसाद ने भी नारी के नख-शिख का वर्णन किया है, किन्तु इन का आंगिक सौन्दर्य रीतिकालीन 'नखशिख' की भांति परम्परराबद्ध, ऐन्द्रिय नहीं है, बल्कि नित–नूतन रुचि बोध से संवलित और प्रयोगशील है। श्रद्धा के नखशिख का वर्णन करते हुए कवि लिखता है : —

"मसृण गांधार देश के नील,
रोमवाले मेषों के चर्म,
ढक रहे थे उस का वपु कांत,
बन रहा था वह कोमल वर्म।"

प्रसाद की भांति दिनकर ने भी नारी के बाह्य सौन्दर्य का चित्रण बड़े सुन्दर एवं सजीव रूप में किया है। कवि की

सम्पूर्ण कल्पना-शक्ति से उर्वशी की देह-यष्टि का निर्माण हुआ है। उर्वशी का रूप-चित्रण अत्यन्त बारीक कविता का उदाहरण है। यह रूप वर्णन निष्छल और निष्कलुष है। सहजन्या उस के सौन्दर्य का वर्णन इस प्रकार कर रही है :—

"सखी उर्वशी नंदन वन की,
सुरपुर की कौमुदी, फलित कामना इन्द्र के मन की,
सिद्ध विरागी की समाधि में राग जगाने वाली,
देवों के शोणित में आग लगाने वाली,
रति की मूर्ति, रमा की प्रतिमा, तृषा विश्वमय नर की,
विधु की प्राणेश्वरी, भारती-शिखा काम के नर की। "

उसका सौन्दर्य इतना अलौकिक एवं आकर्षक था कि जब वह उद्यान में महाराज से मिलने आई तो पुरूरवा उस के सौन्दर्य से चकित हो उठा और उसे वह चन्द्रिका में द्रुम की छाया से निकलती हुए ऐसी प्रतीत हुई मानो स्वयं चांदनी ही स्वर्ण प्रतिमा में आ कर ढल गई हो। यह वर्णन श्रद्धा के सौन्दर्य वर्णन से कितना साम्य रखता हैं :-

"कुसुम-कलेवर में प्रदीप्त आभा ज्वालामय मन की,
चमक रही थी नग्न कान्ति वसनों से छन कर तन की,
हिमकण-सिक्त-कुसुम-सम उज्ज्वल अंग झलमल था,
मानो, अभी-अभी जल से निकला उत्फुल्ल कमल था।"

दिनकर और प्रसाद दोनों ने नारी को रहस्यमय आकर्षण का केन्द्रबिन्दु माना है। प्रसाद के अनुसार सौंदर्य अत्यन्त रहस्यावृत, कौतूहलपूर्ण और मायामय है। कवि के शब्दों में, "सौंदर्यमयी चंचल आकृतियां, सदैव आँखों के समक्ष रहस्य बन कर नाचती रहती हैं। यह अक्षय निधि एक अंतः सलिला जैसी है, अतः इस को पहचान सकना दुष्कर है। " उन्होंने सुन्दरता को इसीलिए मायाविनी, रहस्यमयी आदि सबोधन दिये हैं। श्रद्धा को कवि विश्व माया कुहुक सी साकार मान कर संबोधित करता है :—

"कौन हो तुम विश्माया कुहुक सी साकार,
प्राण सत्ता के मनोहर भेद सी सुकुमार,
हृदय जिसकी कांत छाया में लिये निश्वास,
थके पथिक समान करता व्यजन ग्लानि विनाश। "

सौंदर्य की यह रहस्यात्मकता ही उस के प्रति आकर्षण या भावाकुलता उत्पन्न करती है। 'कामायानी' का मनु ज्यों-ज्यों श्रद्धा के रहस्य को जानना चाहता है, त्यों-त्यों यह रहस्य गूढ़ से गूढ़तर होता जाता है :—

"मनु निरखने लगे ज्यों-ज्यों यामिनी का रूप,
वह अनन्त प्रगाढ़ छाया फैलती अपरूप,
बरसता था मदिर कण-सा स्वच्छ सततअनन्त,
मिलन का संगीत होने लगा था श्री मंत। "

जिस प्रकार 'कामायानी' का मनु लगातार श्रद्धा के जानने का इच्छुक है उसी भांति पुरूरवा भी उर्वशी के परिचय से संतुष्ट न होकर प्रश्न पर प्रश्न करता जाता है। उर्वशी एक रहस्य है और वह रहस्य के इस पर्दे को हटाना नहीं चाहती। वह इस बात से भी भली-भांति परिचित है कि रहस्य के हट जाने से आकर्षण क्षीण हो जाता है। रहस्य को और अधिक गूढ़ बनाती हुई उर्वशी कहती है:—

"कौन त्रिया मैं नहीं राजती हूँ जिस के यौवन में ?
कौन मेघ जिस को न सेज मैं अपनी बना चुकी हूँ ?
कहूँ कौन सी बात और रहने दूं कथा कहां की।
मेरा तो इतिहास प्रकृति की पूरी प्राण कथा है। "

इस प्रकार हम देखते हैं कि दिनकर और प्रसाद दोनों ने अपनी-अपनी कृतियों में नारी के सौन्दर्य के माध्यम से अपनी सौन्दर्य भावना को प्रकट किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सौन्दर्य की उर्मिल मधु-धारा नारी के अंगों में ही नहीं, उस के हृदय एवं मानस में कलनिनाद करती बहती रहती है।

यद्यपि दिनकर और प्रसाद दोनों ने नारी को सौन्दर्य की साक्षात प्रतिमा माना है तथापि तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि प्रसाद ने नारी के सौन्दर्य को अधिक गहराई से वर्णित किया है। दिनकर के सौंदर्य-वर्णन में अप्सराओं की सी उच्छृंखलता अधिक है। ये संयम में रहने के विरुद्ध हैं, सब को अपने सौन्दर्य तथा हाव-भाव का शिकार बनाना ही इन का खिलवाड़ है। इस प्रकार की विचार-प्रणाली के कारण इन नारियों का जीवन उच्छृंखलता से भरा रहता है। दूसरी ओर प्रसाद इस प्रकार के सौंदर्य के पक्षपाती नहीं है, उन की धारणा है कि जो सुन्दर है वह अलंकार के बिना भी सुन्दर है। इसीलिए उन्हें श्रद्धा और इड़ा का अलंकार-शून्य सौंदर्य देवांगनाओं के कृत्रिम सौंदर्य से कहीं अधिक मनमोहक प्रतीत हुआ है। प्रसाद का सौन्दर्य-वर्णन आध्यात्मिक एवं अलौकिक धरातल पर हुआ है।

## नारी–मातृ रूप :–

दिनकर और प्रसाद ने नारी के मातृ रूप की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। उन के अनुसार नारीत्व का चरमोत्कर्ष मातृत्व में ही निहित है। नारी का मातृत्व ही उसके व्यक्तित्व को ससीम से असीम की ओर ले जाता है। 'उर्वशी' में दिनकर ने तीन नारी-पात्रों–उर्वशी, औशीनरी और सुकन्या के माध्यम से जिस मातृत्व भावना का उल्लेख किया है, वही भावना कामायनी में केवल श्रद्धा के चरित्र द्वारा प्रस्फुटित होती है। दिनकर ने जननी में केवल उर्वशी को ही प्रस्तुत किया है। आयु उसका पुत्र है जिस पर तीन नारियों-सुकन्या औशीनरी और उर्वशी वात्सल्य का फूट पड़ता है। उर्वशी अपने मातृत्व पर गौरव करती हुई, अलौकिक सुख का अनुभव करती हुई कहती है :

"कितनी मृदुल उर्मि प्राणों में अथक अपार सुखों की,
दुग्ध धवल यह सृष्ठि मनोरम कितनी अमृत सरस है,
और स्पर्श में यह तरंग सी क्या है साम सुधा की,
अंक लगाते ही आंखों की पलकें झुक जाती हैं"[1]

प्रत्येक माँ की भांति वह भी पुत्रोत्पत्ति से पहले अनगिनत स्वप्न संजोती है। सूर्य के तेज को, चन्द्रमा की कोमल रश्मि को, तारों की पवित्र आत्मा को वह एक स्थान में सहेज कर अपने गर्भ में समा लेना चाहती है। समस्त ब्रह्माण्ड में जो भी शुभ एवं सुन्दर है वह उसे प्राप्त कर पुत्र में समाहित करना चाहती है। वह उस के लिए अनेक मंगल–कामनाएँ करती है, उसे एक प्रतापी, दयालु एवं धर्मात्मा शासक बनने का आशीर्वाद देती है :–

वह सब होगा सत्य, लाल मेरा यह कभी उगेगा,
पिता सदृश ही ऊपर सूर्य बन कर अखंड भूतल में,
और भरेगा पुण्यवान् यह माता का गुण लेकर,
उर अन्तर अनुरक्त प्रजा का शीतल हरियाली से।"

प्राय: इसी प्रकार की भावना हमें 'कामायनी" की श्रद्धा में भी उपलब्ध होती है, जब पुत्र की सम्भावना से पूर्व ही वह उस के लिए वस्तुयें निर्मित करने लगती है। पक्षियों के भरे-पूरे नीड़ों की ओर संकेत करती हुई श्रद्धा मनु से कहती है :—

"तुम को क्या ऐसी कमी रहेगी,
जिस के हित जाते अन्य द्वार।"

अपने भावी पुत्र की कल्पना में खोयी वह मनु से कहती कि किस प्रकार वह खेल कर आया करेगा,। किस प्रकार झूला झूलेगा, किस प्रकार अपनी मीठी रसना से वह मधुर बोल बोला करेगा :—

"झूले पर उसे झुलाउँगी, दुलरा कर लूँगी बदन चूम,
मेरी छाती से लिपट इस घाटी में लेगा सहज घूम,
वह आयेगा मृदु-मलयज सा, लहराता अपने मसृण बाल,
उसके अधरों में फैलेगी, नव मधुमय स्मित लतिका प्रवाल"

उर्वशी के मन में माँ बन जाने पर पति–प्रेम और पुत्र–प्रेम के मध्य अन्तर्द्वन्द्व चलता है। जब वह आयु को सुकन्या के संरक्षण में छोड़ती है तब बड़े ही मार्मिक शब्द कहती है कि वह भरत शाप–वश पति और पुत्र दोनों में से एक ही को प्राप्त कर सकती है :—

"और विवशता यह देखो, मैं अभागिनी नारी,
दिखा नहीं सकती सुत का मुख अपने ही स्वामी को,
न तो पुत्र के लिए स्नेह स्वामी का तज सकती हूँ।"

श्रद्धा के मन में भी मानव के जन्म के उपरान्त प्रायः यही भाव पैदा होता है कि उस का पति उस के पुत्र को उस से अधिक प्यार करे। वास्तव में जब पति बच्चे को प्यार करता है तभी नारी अपने पति पर न्यौछावर हो जाती है। श्रद्धा माँ बन गई किन्तु 'निर्मोही मनु' उसे अकेले ही छोड़ कर भाग गये। श्रद्धा अब यही सोचती है कि 'अहा' यदि मनु होता और वह बच्चे को प्यार करता तो वह प्रफुल्लित हो जाती। इस से यह प्रतीत होता है कि मनु का चरित्र–दौर्बल्य स्त्रीत्व के उपभोग के पक्ष में ही व्यक्त नहीं होता, अपितु परिणय के उपरान्त संतान की प्राप्ति के सुअवसर पर गर्हित ईर्ष्या का शिकार हो जाता है।

यहीं दिनकर का पुरूरवा प्रसाद के मनु से ऊँचा उठ जाता है। जब पुरूरवा को अपने पितृत्व का ज्ञान होता है तो वह सुसंस्कृत पुरुष की तरह अपने जीवन की सार्थकता उस पर न्यौछार कर देता है। वस्तुतः एक सच्चे पिता के रूप में पुरूरवा जिस वात्सल्य–भाव से भर जाता है, मनु की संज्ञा उसका अनुभव तक नहीं कर पाती।

## नारी का पत्नी रूप

दिनकर और प्रसाद दोनों ने नारी के पत्नीत्व की विशेष रूप से सराहना की है। उन्होंने नारी को पुरुष के समान उच्च सत्ता प्रदान की है। उन के समस्त साहित्य में नारी पुरुष से ऊँची सन्मानित शीर्ष पर बैठी हुई प्रतीत होती है। ऐसा लगता है जैसे सृष्टि का संचालन पुरुष नहीं बरन् नारी के निर्देशों पर आधारित है। प्रसाद ने श्रद्धा को ऐसी प्रेरणाशक्ति के रूप में चित्रित किया जो मानव–संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती हुई मनु को कर्मक्षेत्र में प्रवृत्त करती है :—

"शक्तिशाली हो, विजयी बनो,
विश्व में गूंज रहा जयगान"

दिनकर की भी नारी के प्रति प्रायः यही भावना थी कि नारी ही समस्त क्रिया–कलापों की प्रेरणादायिनी शक्ति है। वह स्पष्ट कहते हैं कि पुरुष कर्म है और नारी प्रेरणा। 'उर्वशी' में भी दिनकर पत्नी–स्वरूपा नारी को देवत्व के अधिक समीप पाते हैं और नारी को पुरुष की प्रेरणा-शक्ति घोषित करते हैं :—

"इतिहासों की सकल दृष्टि केन्द्रित, बस एक क्रिया पर
किन्तु नारियाँ क्रिया नहीं प्रेरणा, प्रीति, करुणा हैं;

दिनकर और प्रसाद दोनों ने नारी के गृहिणी रूप को अधिक महत्त्व दिया है। प्रसाद ने श्रद्धा के स्वरूप में गृहिणी का आदर्श प्रस्तुत किया है। प्रसाद की भावना है कि गृहस्थ नारी की मंगलमयी कृति, भक्ति की वस्तु है।

आदर्श गृहिणी के रूप में श्रद्धाद या, स्नेह, ममता की प्रतिमा है। वह 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना से ओत प्रोत है। वह जीवन के सुखों को सभी में विकसित देखना चाहती है :—

"औरों को हँसते देखो मनु,
हंसो और सुख पाओ;
अपने सुख को विस्तृत कर लो;
सब को सुखी बनाओ।"

इस मंगल कामना के कारण वह स्वयं दुःख सहने के लिए तत्पर है किन्तु अन्य प्राणियों को सुखी करना उस के जीवन का चरम लक्ष्य है। अतः पत्नी रूप में प्रसाद ने श्रद्धा को सर्वमंगला के रूप में चित्रित किया है। श्रद्धा का पति-प्रेम अत्यन्त नहीं है और पत्नी से भिन्न पति का अस्तित्व नहीं है-दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । नारी तो अपना सर्वस्व पति-चरणों पर लुटा कर संसार का समस्त वैभव पा लेती है, इसीलिए अपने पति को विपत्तियों के बीच में घिरा हुआ जानकर श्रद्धा अपने प्रवासी पति को खोजने के लिए निकल पड़ती है।

दिनकर ने पत्नी रूप में दो नारी-पात्रों को चित्रित किया है। औशीनरी-जो राजा पुरूरवा की पत्नी है, सुकन्या,-जो महर्षिच्यवन की पत्नी है। दोनों के जीवन में बड़ा अन्तर है। औशीनरी दुःखी और परित्यक्ता है जब कि सुकन्या अपने पति की प्रियतमा है । और औशीनरी एक आदर्श भारतीय पत्नी है। यद्यपि वह परित्यक्ता है तथापि वह ईर्ष्या-द्वेष से रहित एक पतिव्रता नारी है । वह नारी जाति के भविष्य के प्रति मंगलाकांक्षी है । उसी शब्दों में :—

"नारी का स्वर्णिम भविष्य, जाने, वह अभी कहाँ है,
हम तो चली भोग उस को सुख-दुख जो हमें बदा था।,
मिले अधिक उज्ज्वल, उदार युग आगे की ललना को।"

सुकन्या का दृष्टिकोण गार्हस्थिक है। वह पत्नी-जीवन को ही नारी का परम लक्ष्य मानती है। वह अपने पति के सान्निध्य के अतिरिक्त और किसी की कामना नहीं करती। अप्सराओं के विविध भोगों से वह पूर्णरूपेण अपरिचित है और पति को ही आनन्द-धाम मानती है । उस का विश्वास है कि गृहस्थ जीवन में सफलता तभी है जब नर-नारी दोनों इस प्रकार अविभिन्न हो जाएँ जैसे एक ही वृत्त पर खिले हुए दो पुष्प :—

"एक दूसरे के उर में हम ऐसे बस जाते हैं,
दो प्रसून एक ही वृंत पर जैसे खिले हुए हैं;
फिर रह जाता है भेद कहाँ पर शिशिर, घाम पावस का,
एक संग हम, युवा संग ही संग वृद्ध होते हैं,
मिल कर देते खेप अनुद्धत मन विभिन्न ऋतुओं को;
एक नाव पर चढ़े हुए हम उदधि पार करते हैं।"

## नारी का प्रेमिका रूप :—

प्रसाद और दिनकर ने नारी-पुरुष की प्रेम भावना पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं। ये दोनों कवि यह मान कर चलते हैं कि प्रणय की भावना नारी-पुरुष के मन की शाश्वत् स्वाभाविक भावना है, जिस का शमन नहीं किया जा सकता और किया भी नहीं जाना चाहिए, उन्होंने नारी को प्रेम करने की स्वतन्त्रता दी है।

'कामायनी' में प्रसाद ने यद्यपि प्रेमिका के रूप में इड़ा को चित्रित किया है तथापि श्रद्धा के चरित्र को उच्च दिखलाने के लिए वे इड़ा के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर सके अतः नारी-प्रेम का सच्चा स्वरूप हमें इड़ा की अपेक्षा श्रद्धा के चरित्र में अधिक उपलब्ध होता है। इड़ा को प्रसाद ने एक ऐसी बुद्धिवादी एवं तर्क-वितर्क प्रवीण नारी के रूप में चित्रित किया है जिस में नारी-सुलभ गुण अधिक हैं। श्रद्धा के नारीत्व में प्रेम की अनन्यता का सुकोमल भाव निहित है। मनु के प्रति वह सदैव प्रेयसी, पत्नी, सहचरी एवं पथ-निर्देशिका के रूप में अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करती है। अतः श्रद्धा का चरित्र प्रसाद के प्रेम सम्बन्धी आदर्श की उदार व्याख्या प्रस्तुत करने में समर्थ है। मनु के प्रति श्रद्धा की निष्ठा असीम है। वह मनु के चले जाने पर स्वप्न में भी किसी दूसरे का ध्यान नहीं करती। घायल मनु को पा कर वह विश्वस्त हो अपने प्रणयी की सुरक्षा के लिए तत्पर हो उठती है :—

"श्रद्धा नीरव सिर सहलाती,
आँखो में विश्वास भरे,
मानो कहती 'तुम मेरे हो'
अब क्यों कोई वृथा डरे । "

इतने पर भी मनु के द्वारा आत्मग्लानिवश फिर एक बार श्रद्धा को छोड़ देने पर भी उस की एकनिष्ठता में कोई अन्तर नहीं पड़ता, और वह उसे खोजने के लिये फिर चल पड़ती है :—

"मैं अपने मनु को खोज चली,
सरिता मरु नग या कुंज गली,
वह भोला इतना नहीं छली,
मिल जायेगा, हूँ प्रेम–पली । "

दिनकर ने भी नारी के प्रेमिका रूप को अपनाया है । 'उर्वशी' तृतीय अंक में कवि ने प्रेम, प्रेमी और प्रेमिका की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है । प्रेमी है पुरूरवा और प्रेमिका है उर्वशी । प्रेमिका के रूप में उर्वशी पूर्ण मानवी के रूप में प्रकट हुई है । वह पुरूरवा के गुणों से आकर्षित होकर हृदय–समर्पण कर देती है । वह पुरूरवा से कहती है :—

"पर इस आने में किंचित भी स्वाद कहाँ उस सुख का
जो सुख मिलता उन मनस्विनी वाम लोचनाओं को,
जिन्हें प्रेम से उद्वेलित विक्रमी पुरुष बलशाली,
रण से लाते जीत या कि बल सहित हरण करते हैं । "

अत: 'कामायनी' और 'उर्वशी' के अध्ययन के उपरान्त यह निर्णय सहज ही लिया जा सकता है कि दोनों कवियों का नारी के प्रति प्राय: एक समान ही दृष्टिकोण था । श्रद्धा और उर्वशी के माध्यम से इन्होंने नारी के अलौकिक रूप का चित्रण किया है जो समस्त मानव-जाति के लिए अनुकरणीय है । यद्यपि दोनों कवियों की नारी–भावना में समानता है तथापि 'कामायनी की नारी और 'उर्वशी' की नारी में कुछ–कुछ भिन्नता भी है । 'कामायनी' का मनु नारी को श्रद्धा की दृष्टि से देखता हुआ उसे बिश्वास की संज्ञा देता है :—

"नारी । तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास–रजत–नग–पग–तल में ;
पीयूष स्रोत सी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल में । "

किन्तु 'उर्वशी का नायक नारी को इस दृष्टिकोण से नहीं देखता, बल्कि वह तो नारी को समस्त सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए सेतु के सदृश मानता है । वस्तुत: 'उर्वशी' का दिनकर इन पंक्तियों की उच्चता तक नहीं उठ सका और नारी को वह स्थान नहीं दिला सका जो उस से अपेक्षित था ।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 'उर्वशी' महाकाव्य 'कामायनी' के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं है । कथा का मूल स्रोत पात्रों की योजना और उद्देश्य में दिनकर प्रसाद के ऋणी कहे जायेंगें । वस्तु–स्थिति यह है कि दोनों महाकवियों न पात्र–भेद से एक ही बात कहने का यत्न किया है, दोनों ने माना है कि नारी ही मनुज को देवत्व की ओर ले जा सकती है ।

●एम०–ए०–उत्तरार्ध
स्नातकोत्तर, हिन्दो विभाग,
जम्मू विश्व विद्यालय

# कला और सौन्दर्य का सम्बन्ध

डॉ० सुधा गुप्ता

'कल' अथवा 'कड' धातु से व्युत्पन्न कला के क्रमशः दो अर्थ होते हैं :– (1) प्रेरणा करना, ध्वनि करना (2) आनन्दित करना । सर्वप्रथम कला शब्द का प्रयोग भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में किया, ऐसा माना जाता है।

कला का आधार सौन्दर्य की मूलभूत चेतना है । प्रायः कला का उपयोगी कला और ललितकला में विभाजन किया जाता है । उपयोगी कला व्यवहारजनित और सुविधाबोधी है जबकि ललितकला मन के सन्तोष के लिए है । उसमें विशिष्ट मानसिक सौन्दर्य की योजना होती है, जो उपयोगितावाद से भिन्न है। कलाकार के लिए आवश्यक है कि उसकी अभिव्यक्ति सौन्दर्ययुक्त हो । इतना ही नहीं कलाकार के पास ऐसा निर्माण–कौशल होना चाहिए जो अधिकतम मात्रा में आनन्द उत्पन्न करने में समर्थ हो । इस प्रकार शुद्ध कला का लक्ष्य भौतिक उपादेयता नहीं वरन् आनन्द प्रदान करना है और कलात्मक रचना का आधार वह मानसिक शृंखला है जो अदृष्ट तथा अबोध्य को स्पष्टता की उस मात्रा तक ला देती है कि वह सबके लिए ग्राह्य हो जाता है । सच्चा कलाकार दूसरे को अपनी सघन अनुभूति में भागीदार बना कर उसे आनन्द प्रदान करता है । यही अनुभूति और इससे उत्पन्न भावना कलाकृति की निर्मिति के दौरान और उसकी सम्पूर्णता के बाद आनन्द की वह शृंखला व्याप्त करती है जिसे कलाकार ही नहीं वरन् कलाकृति का रसास्वादन करने वाला प्रत्येक सहृदय प्राप्त करता है ।

कलाएँ अनेक हैं, परन्तु कला का ध्येय सर्वत्र एक ही है–सौन्दर्य का अनुसन्धान अथवा आनन्दानुभूति । कला का जन्म जिन संवेदनात्मक क्षणों में होता है वे सर्वत्र समान हैं । प्रणय की अभिव्यक्ति चाहे नृत्याभिनय में हो, मूर्ति में, संगीत में अथवा काव्य में, अभिव्यंजना का स्वरूप भिन्न होने पर भी मूल संवेदना में कोई अन्तर नहीं होगा । समस्त कलाएँ परस्पर आबद्ध हैं, और उनका लक्ष्य समान है । चित्र, नाट्य, संगीत, काव्य आदि कला–प्रकारों में तारतम्य स्थापित किया जा सकता है । संगीत में स्वर प्रधान है, काव्य में शब्द, चित्र में रंग रेखाएं, मूर्ति कला में प्रस्तर । ये कलाएं परस्पर एक दूसरे को भावनात्मक स्तर पर प्रभावित करती हैं, जैसे समस्त भारतीय चित्रकला और शिल्पकला 'रामायण' और 'महाभारत' से प्रभावित है और महान कला–मन्दिरों एवं चित्रों ने कवियों को बराबर स्फूर्ति दी है । पन्त जी की ताजमहल पर लिखी कविता इस प्रवृत्ति का उदाहरण है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि कला के भेद किन आधारों पर हों । वास्तव में कलाओं का अन्तिम ध्येय सौन्दर्य–प्राप्ति होने पर भी माध्यम की भिन्नता और अभिव्यंजना शैली भिन्न होती हैं । इसीलिए उनके आकार और वैशिष्ट्य भिन्न होते हैं ।

कलाओं को दो वर्गों में रखा जाता है–मूर्त्त और अमूर्त्त । मूर्त्त कलाओं में मूर्तिकला, वास्तुकला तथा चित्रकला की गणना की जाती है । इनमें सौन्दर्य की अभिव्यक्ति इनके रूपगत आधारों पर होती । अमूर्त्त कला में संगीत और काव्कला की गणना होती है । क्रोशे [1] तो कलाओं के वर्गीकरण को ही अनुचित मानते हैं । उनका कहना है–कलाओं का सौन्दर्य शास्त्रीय वर्गीकरण व्यर्थ है, क्योंकि उनकी सीमा नहीं होती न ही उनका कोई निर्धारण–क्रम हो सकता है । किन्तु इस कथन से

भारतीय विचारक सहमत नहीं। प्राचीन काल से ही कला के विविध रूप दृष्टिगोचर होते हैं।

## चित्रकला और सौन्दर्य :-

चित्रकला की सामग्री में अनिवार्य हैं: रंग और फलक। रंग और और रेखायें विविध अर्थों की व्यंजना करती हैं। रंगों के माध्यम से चित्रकार संवेगों की अभिव्यक्ति में सफल होता है। इतना ही नहीं रगों के द्वारा ऐन्द्रिय चमत्कार भी उत्पन्न होता है। चित्रकार स्थपित और मूर्तिकार की भांति 'स्थान' का उपयोग तो करता है किन्तु सौन्दर्य को व्यंजित करने वाले इसके उपादान भिन्न हैं। इसका माध्यम अधिक विकसित है क्योंकि इसमें मानव हृदय के भाव, विचार और काल्पनिक बिम्ब मूर्त्त आकार ग्रहण कर सकते हैं, सूक्ष्मतम विचारों की अभिव्यक्ति अधिक होती है। रंगों से हर्ष उल्लास, शोक, सरसता, शुष्कता आदि संवेग व्यंजित होते हैं किन्तु इन सब के पीछे निहित भावना सौन्दर्य की है, चाहे कलाकार शोकसंतप्त नारी का चित्र बनाए अथवा प्रफुल्ल वातावरण का उन, दोनों चित्रों का अंकन सौन्दर्याभिव्यक्ति के लिए किया गया होता है।

भावों को वहन करने में जितना हाथ रेखाओं का होता है, उतना ही रंगों की सूक्ष्मता एवं चयन का। कहने का तात्पर्य यह है कि चित्र के सौन्दर्य की पहली शर्त ही रूप, रंग, रेखाओं आदि के एकान्वित प्रभाव की है, तभी चित्रात्मक सौन्दर्य अंकित हो पायेगा और और अभिप्रेत प्रभाव की व्यंजना की जा सकेगी। रेखाओं के द्वारा भी विशिष्ट भावों को व्यंजित किया जाता है। बातिक में रेखाएं गति के प्रभाव क व्यंजित करती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई कथांश नहीं होता है, भाव अथवा भावांश से सम्बन्धित कोइ अभिव्यक्ति नहीं होती, फिर भी उसमें प्रभावित करने की क्षमता होती है।

इस प्रकार चित्रकला के द्वारा सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की जाती है।

## मूर्त्तिकला और सौन्दर्य .-

मूर्त्ति कला में प्रत्यय अपेक्षाकृत अधिक मूर्त्त रूप में व्यक्त होता है। मन्दिरों के निर्माण में स्थापत्य एवं मूर्ति दोनों कलाओं का सम्मिश्रण रहता है। मूर्तिकला में स्थूल वस्तु को चेतन मन के अनुरूप आकृति में ढाला जाता है। हीगेल मानते हैं कि स्थापत्य अथवा मूर्तिकला में कठोर माध्यमों के द्वारा रूप का विन्यास अधिक स्थिर और इन्द्रियों के लिए अधिक स्पष्ट होता है। साथ ही मूर्तिकला में स्थिरता अधिक रहती है।[2]

कलाकार शब्द, रंग आदि के अधीन न रहकर मूर्ति निर्माण में अधिक स्वतंत्रता महसूस करता है। इस सम्बन्ध में डॉ० हरद्वारी लाल शर्मा का कथन उपयुक्त हैं-"पत्थर में—अव्यक्त में प्रबल और स्पष्ट व्यक्तित्व का आविर्भाव ही कला सृजन है।[3] ताजमहल कोदेखकर जिस सौन्दर्य की अनिवर्चनीय अनुभूति होती हैवह वह कलाकार की कुशलता की परिचायक है इसी प्रकार नटराज की मूर्ति अथवा अजन्ता ऐलोरा की मूर्तियों को देखकर जिस आनन्द की अनुभूति होती है वह हमारे भावों और विचारों को तरंगित कर देने की सामर्थ्य रखने के कारण कला की उत्कृष्टता प्रमाणित करती हैं

---

1 ... — Any attempt an aesthetic classification of art is absurd ... All the books dealing with classification and systems of the Arts could be burnt without any loss whatever.—B Croce : Aesthtics : London, 1953 P. 114.

2 सौन्र्यशास्त्र-हरद्वारी लाल शर्मा-पृष्ठ—146

3 वही—पृष्ठ—166

कठोर माध्यम से स्थिरता और चिरंतनता की अभिव्यक्ति में जो सहायता मिलती है वह अन्य किसी माध्यम से नहीं मिल सकी। हमारे यहाँ शैवों, वैष्णवों और बौद्धों ने मूर्तियों में जिस सौन्दर्य का अंकन किया है, वह हमारे महाकाव्यों से भी सुन्दर है।

## संगीत कला और सौन्दर्य :-

संगीत सूक्ष्म कला है। इसमें प्रत्यय की अभिव्यक्ति माध्यम (स्वर) की सूक्ष्मता और अन्तर्मुखता के कारण अधिक सफलता के साथ होती है। संगीत 'आईडिया' को स्थूल जड़तत्वों-स्थान, दिक तथा अन्य कलाओं में प्रयुक्त स्थूल माध्यमों से मुक्त कर देता है। कान्ट की तरह शोपनहावर संगीत को अन्य कलाओं में नहीं गिनते। उनके अनुसार अन्य कलाएं विचारों तथा भावों को अभिव्यक्ति देती हैं, जबकि संगीत विचारों की पृष्ठभूमि में स्थित 'इच्छा' को प्रकाशित करता है। मनुष्य की यह प्रकृति है कि उसमें इच्छा नित्य जाग्रतहती है, कभी सन्तुष्ट नहीं होती। संगीत द्वारा यह इच्छा कुछ समय के लिए अन्य कार्यों से कहीं अधिक सतुष्ट होती है।

संगीत और सौन्दर्य का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। संगीत में नाद सौन्दर्य का महत्व बहुत होता है। संगीत में भाव ध्वनि के माध्यम से रूपाकार ग्रहण करता है और पुन: श्रोता में वही भाव उत्पन्न करता है। कूके ने संगीत के सौन्दर्य को स्पष्ट करने के लिए बिथोविन के संगीत का उदाहरण दिया है। जब बिथोविन को ईश्वरीय अनुभूति हुई तो वह संगीत के काव्यात्मक रूप में प्रकट हुई और वह लौकिक संगीत अनुभूति को ईश्वरीय शक्ति मान कर प्रसन्नता के आवेग से उछल पड़ा। आनन्दमयी ध्वनियों का संयोजन, उन ध्वनियों का आयत्तर्न, पुनरावर्त्तन, उनकी तीवरता और मन्थरता ही संगीत का सौन्दर्य है। डॉ० रामानन्द तिवारी ने संगीत के सौन्दर्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है "संगीत शब्द की कला है। प्राकृतिक शब्द केवल ध्वनि का स्पन्दन है। उसकी ध्वनियाँ किसी पदार्थ भाव या क्रिया का संकेत नहीं करती। ध्वनि प्रवाहों की लय योजना में एक रूप का अतिशय उत्पन्न हो जाता है। यही रूप का अति शयसंगीत को जन्म देता है। ध्वनि की लय में ही संगीत का सौन्दर्य निहित रहता है"। आगे वे लिखते हैं "स्वरों के उतार चढ़ाव उनकी भिन्नताएं तथा उनकी भगिभाए राग के रूप में अतिशय विधान उत्पन्न करती हैं। 'ख्याल' में विलम्बित लय के द्वारा भाषा के दो चार पदों का संग के कई गुने स्वरों में विस्तार होता है। 'ठुमरी' में भाषा के दो चार पद अनेक बार विभिन्नस्वर विधानों के अनुसार गाये जाते हैं। इनमें स्वर योजना की विभिन्नता के द्वारा भाषा के उन्हीं पदों में विभिन्न भाव व्यंजित किए जाते हैं। संगीत में एक ओर रागों की स्वर योजनाए निश्चित हैं, वहां दूसरी ओर स्वर योजनाओं की विविधत के लिए बहुत गुंजाइश है।[1] संगीत के स्वरों की इसी विविधता में संगीत का सौन्दर्य निहित है।

## काव्यकला और सौन्दर्य :-

भारतीय विचारकों ने काव्य को कला से भिन्न माना है। उन्होंने काव्य की गणना विद्या में तथा कलाओं की अविद्या में की है। भारतीय विचारकों ने काव्य में रस को लक्ष्य माना है जबकि अन्य कलाओं मे मुख्यत: कौशल के द्वारा बाह्य सौन्दर्य की सृष्टि को ध्यान में रखकर विचार किया गया है।

प्रसाद ने काव्य और अन्य कलाओं के दो स्पष्ट भेद करते हुए काव्य के विषय में लिखा है-

(1) रामानन्द तिवारी 'भारती', साहित्य कला पृष्ट-59

'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिस का सम्बन्ध विश्लेषण विकल्प और विज्ञान से नहीं है। यह एक श्रेयमयी प्रेम रचनात्मक ज्ञान धारा है। आत्मा की मननक्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है, वह निःसन्देह प्राणमयी और सत्य उभयपक्ष प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।"—प्रसाद की इस धारणा के अनुसार काव्य को कला नहीं माना जा सकता। आचार्य शुक्ल भी प्रसाद के मत का समर्थन करते हुए काव्य को कला मानने के पक्ष में नहीं हैं। उनका मत है काव्य का कला और सौन्दर्यशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। वे कहते हैं " सौन्दर्यशास्त्र से जिस प्रकार चित्रकला, मूर्तिकला आदि शिल्पों पर विचार होने लगा है, उसी प्रकार काव्य की भी सबसे बेढंगी बात यही हुई है।[2]

उपर्युक्त मतों को यदि मान लिया जाय तो काव्य को कला के रूप में मान्यता नहीं दी जा सकती और इस प्रकार हीगेल ने जो ललित कलाओं का विवेचन किया है, वह निर्मूल सिद्ध हो जायेगा। काव्य को विद्या और अन्य कलाओं को उपविद्या मानने का प्रश्न ही हीगेल के सम्मुख नहीं था, क्योंकि उसने समस्त कला को 'आइडिया का माध्यम माना है। चूंकि हीगेल के कला विषयक विचारों पर उस समय तक पूर्ण विवेचन नहीं हो पाया था अतः यह भ्रान्ति होना संभव था, किन्तु अब काव्य को भी कला के अन्तर्गत मान लिया गया है। काव्य भी सौन्दर्य की सृष्टि करता है, शब्द और अर्थ के माध्यम से, अतः काव्य का भी सौन्दर्य शास्त्रीय पक्ष स्पष्ट है। काण्ट के अनुसार कला एक अभिव्यक्ति है और काव्य में भी भावों की अभिव्यक्ति होती है, अतः काव्य कला है। इतना ही नहीं काण्ट कलाओं में काव्य को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, क्योंकि उसमें अभिव्यक्ति की शक्ति सबसे अधिक होती है।

प्रत्येक कला में भावों की अभिव्यक्ति होती है, काव्य में शब्दों के माध्यम से संकेतिक अर्थों की व्यंजना होती है। काव्य में भाव और कल्पना सार्थक शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं स्थान, दिक, काल सब का अतिक्रमण कर जाता है शब्द और किसी भी प्रकार के सूक्ष्माति–सूक्ष्म विचार तत्व को मूर्त्त कर देने की शक्ति रखता है। काव्य का शुद्ध रूप यही है। परन्तु व्यवहार में काव्य संगीत, चित्र एवं मूर्ति से भी सहायता लेता है। काव्य को गाया भी जा सकता है, चित्र पद्धति पर वस्तु का चित्रण भी हो सकता है। इस प्रकार काव्य देशकाल और स्थान से अतीत एक सार्वदेशिक, सार्वकालिक कला है, काव्य विचार तत्व को ऐन्द्रिय रूपों में अभिव्यक्त कर पूर्णता की उपलब्धि कराने में समर्थ होता है।

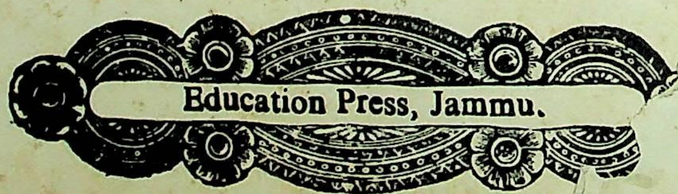
सौन्दर्य की अभिव्यक्ति चाहे कूँची के माध्यम से हो छैनी के माध्यम से अथवा शब्दों के माध्यम से, सभी कलाएँ अपने–अपने ढंग से सौन्दर्याभियक्ति करती हैं। गुलाबराय लिखते हैं–"काव्य का संगीत से तोविशेष सम्बन्ध है ही, किन्तु उसमें अन्य कलाओं का भी प्रतिनिधित्व हो जाता है। काव्य में वास्तुकला की एकता, पूर्णता, सन्तुलन, अनुपात आदि के गुण वर्तमान रहते ही हैं। अन्तर केवल उतना ही है कि उसमें शब्द चित्रमय होते हैं। काव्य का वर्णनांश चित्रकला से सम्बधित है। काव्य में संगीत, तरलता, लय और गति भी है। इसप्रकार काव्य में सभी कलाओं के मूल तत्व आ जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि काव्य कला के द्वारा सौन्दर्य सृष्टि होती हैं। अतः सौन्दर्य शास्त्र काव्यालोचन के संदर्भ में उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि प्रत्येक कला में इस बात का ध्यान रखना जरूरी हो जाता है कि वह दूसरों को प्रभावित करे उसमें अभिव्यक्त सौन्दर्य से भावक भी आनन्दित हो सके। इसीलिए कलाकार के लिए 'क्या कहने जा रहा है,' जितना महत्वपूर्ण है 'कैसे कहने जा रहा है' उससे कम महत्व का नहीं है।

● अरविन्द नगर
उदयपुर

1 काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—पृष्ठ—129
2 चिन्तामनि भाग–2 पृष्ठ—180
3 गुलाबराय सिद्धान्त और अध्ययन-पृष्ट—37


Education Press, Jammu.